सूची

युग-परिवर्तन

युग-धर्म

महाभारत की भूमिका

महाभारत की ऐतिहासिक सामग्री

महाभारतकालीन जीवन और आदर्श

भारत-युद्ध

गीता-दर्शन

आर्य जीवन की नई समस्याएँ

'युगों के परिवर्तन से धर्म में भी परिवर्तन होता रहता है और धर्म में परिवर्तन होने से लोक की स्थिति में भी परिवर्तन हो जाता है।'[1] महाभारत का यह कथन हमारे देश के इतिहास में बार-बार सत्य प्रमाणित होता रहा है।

परिस्थिति पलटने पर मनुष्य की प्रेरणाओं, श्रद्धाओं, विचारों तथा कल्पनाओं में भी परिवर्तन आने लगते हैं। ये ही मनुष्य की कार्यप्रणाली निर्धारित करती हैं, इसलिए इनके अनुसार ही मनुष्य का स्वरूप बनता जाता है।[2]

ये ही परिवर्तन के मौके मनुष्य के, विशेषकर उन्नत मनुष्य के सामने बहुत बड़ी विकट समस्याएँ ला देते हैं। नवीन विरोधी परिस्थिति के साथ संघर्ष करने के सिवा उन समस्याओं को सुलझाते

---

[1] महाभारत ; वन पर्व—हनुमान्‌जी का भीमसेन को उपदेश।

[2] गीता में भी कहा है—'श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः'—मनुष्य श्रद्धामय है, जिसकी जैसी श्रद्धा रहती है, वह वैसा ही होता है।

चलना आदमी के लिए लाजिमी हो जाता है। मनुष्य का अपना ही धर्म—उसका विवेक, उसकी विचारशक्ति यह प्रश्न हल करने में लग जाती है कि जीवन को सुचारु रूप से बिताने के कौन से मार्ग, कौन से सुन्दर साधन हैं? इस नवीन परिस्थिति में हमारे कैसे कार्य होने चाहिए? हमारा कर्त्तव्य क्या है?

त्रेता और द्वापर युग के सन्धिकाल में आर्यों के सामने ऐसे ही प्रश्न आ उपस्थित हुए थे। उस समय तक 'देवासुर संग्राम' तथा दस्यु, पणि और व्रात्यों के साथ के युद्ध को बीते बहुत दिन हो चुके थे। रामायण काल के दक्षिण के 'राक्षसों' के साथ का आर्यों का युद्ध भी समाप्त हो चुका था। इस समय तक वर्तमान भारत के अधिकांश भाग में आर्यों की बस्तियाँ स्थापित हो चुकी थीं। वे आर्य अपने उन नये प्रदेशों को सच्चे अर्थ में अपना बना चुके थे। उन प्रदेशों में पहले से निवास करनेवाले लोगों के साथ आर्यों का चलनेवाला 'कलह-काल' भी समाप्त हो चुका था। अब वे दोनों ही यथासंभव शांति-पूर्वक रहने और देश को उन्नतिशील बनानेवाले कार्यों में लग गये थे। पर साथ ही यही समय था जब विश्वास संबंधी आर्य विचार-धारा आर्येतर विचार-धारा से बड़े जोरों से टकराने लगी थी।

सांस्कृतिक विकास की दृष्टि से अधिकांश आर्येतर जातियाँ तब तक आर्यों की समुन्नत कोटि तक नहीं पहुँच पायी थीं। उनके बीच पत्थर, वृक्ष तथा साँपों की पूजा प्रचलित थी। इन पिछड़ी हुई जातियों के बीच रहकर अपने विकास की रफ्तार जारी रख पाना आर्यों के लिए बड़ा कठिन साबित होने लगा। इस कठिन समस्या के हल करने के उनके लिए तीन ही उपाय हो सकते थे। पहला उपाय पिछड़ी जातियों को नष्ट कर देना हो सकता था। पर कई दृष्टियों से यह असंभव सा ही था। एक तो पिछड़ी जातियाँ संख्या में आर्यों की अपेक्षा कहीं

अधिक थीं, दूसरे उनके नष्ट हो जाने पर प्रदेशों का विकास भी रुक जाता और तब आर्य भी पिछड़ी जातियों की भाँति ही कठिनाई में पड़ जाते। दूसरा उपाय यह था कि आर्य पूर्णतया पिछड़ी जातियों में ही घुल मिलकर एक हो जाते। पर इस रास्ते में विकसित आर्य जाति का अपना जातीय स्वाभिमान ही सबसे बड़ा बाधक था। तब आर्यों के सामने एक तीसरा उपाय सिर्फ यही रह जाता था कि वे पिछड़ी हुई जातियों को भी अपनी कोटि में ऊपर खींच लाने की चेष्टा करें और उस भाँति अपने विकास का पथ खुला रखें।

वास्तव में ही द्वापर युग के आरंभ से हम आर्य विचार-धारा को तीसरे उपाय में संलग्न हो गया देखते हैं। वैदिक विचार-धारा में इसी समय से बहुत बड़े-बड़े क्रांतिकारी परिवर्तन स्थान जमाने लगे। पिछड़े हुए लोगों को ऊपर उठाने का काम आसान नहीं था। इसके लिए उच्च वैदिक विचारकों को नीचे झुकना पड़ा। नये अल्प-विकसित लोगों को आर्य सभ्यता के अंचल में ले आने के लिए वैदिक धर्म को ही अपना स्वरूप परिवर्तित करने के लिए बाध्य होना पड़ा। वैदिक धर्म तथा पिछड़ी जातियों के विश्वास में आदान-प्रदान की क्रिया आरंभ हो गयी। समूचे द्वापर युग के ग्यारह सौ वर्ष में (मोटा-मोटी २५०० ई० पू० से १४०० ई० पू० तक) आर्य विचार-धारा का इतिहास वैदिक धर्म के पिछड़ी जातियों के विश्वास के साथ समन्वित होने का इतिहास है। इसी घटना को हम तत्कालीन सामाजिक क्रांति तथा महान् ऐतिहासिक राजनैतिक उथल-पुथल की जड़ में काम करता पाते हैं। इसीलिए भारतीय जीवन धारा के प्राणपूर्ण सिलसिले की जाँच करते समय तत्कालीन राजनैतिक घटनावली पर दृष्टि डालने के पहले हम उस समय की विचार-धारा से परिचय प्राप्त करने के लिए बाध्य हो जाते हैं।

संघर्ष के बीच

पिछड़ी जातियों के साथ पाला पड़ने पर आर्य विचारकों ने वास्तव में ही अपने महान् होने का परिचय दिया है। इस मौके पर उनके कार्य ठीक उसी ढंग के हुए हैं जैसे किसी परिवार में बड़ों के छोटों के प्रति हुआ करते हैं। बड़ों की जैसी ममता अपने बच्चों के प्रति रहती है वैसीही आर्य विचारकों ने पिछड़े विचारवालों के साथ दिखलाई थी। पिछड़ी जातियों के विश्वास आर्य विचारकों की दृष्टि में बच्चों के खिलौने सरीखे थे। वे खिलौने उन्हें अपने निज के लिए उपयोगी नहीं थे, पर सिर्फ इसीलिए उन्होंने उन खिलौनों को ही नष्ट कर देने की बात नहीं सोची। वे 'बच्चे' उन्हें प्रिय थे, इसलिए आर्य विचारक स्वयं ही उनके खेल में सहयोग देने लगे।

आर्य विचारकों का धर्म किसी प्रकार के अंधविश्वास पर अवलंबित नहीं था, इसीलिए वे बड़े सहनशील और दूसरों के प्रति सहानुभूति रखनेवाले थे। वे समझते थे कि किसी भी धर्म वा विश्वास को संपूर्ण सत्य का ठेका नहीं मिला रहता। इसीलिए यदि किसी के मन को पत्थर, वृक्ष वा सर्प की पूजा से शांति मिलती हो तो उस में साम-स्वाद दखल देना उनके अधिकार के बाहर की बात है।

पर साथ ही पिछड़ी जातियों को विकसित ज्ञान की ओर खींच लाना वे अवश्य ही अपना कर्तव्य समझते थे। इसी विचार से प्रभावित हो उन्होंने वैदिक धर्म की बहुत सी जटिलताएँ स्वयं ही दूर कर दीं। उस समय तक आर्यों का विचार-शास्त्र सिर्फ उच्च श्रेणी के विद्वानों की ही कल्पना की चीज थी। साधारण लोगों में भी उसका प्रचार हो सके, वे भी उसे अपना सकें इस विचार से आर्यों ने इस समय से अपना विचार-शास्त्र सहज बनाना आरंभ किया। अल्प-संस्कृत लोगों के लिए वैदिक विचारों को बुद्धिगम्य बना देने के लिए पिछड़ी विचार-धारा के विश्वास संबंधी सांचे में ही उच्च वैदिक आदर्श ढाले जाने लगे। कई उच्च वैदिक आदर्श पिछड़ी जातियों के बीच प्रचलित आख्यान, किस्से, कहानी तथा विश्वास संबंधी विचारों के साथ मिश्रित कर दिए गए। इस संमिश्रण के कारण सर्प, वृक्ष, पहाड़ और तारों की आराधना को भी वैदिक धर्म में आश्रय मिलने लगा। इससे आदिम से आदिम जमाने के अंधविश्वास से लेकर बुद्धि को प्रेरित करनेवाले सर्वोच्च कोटि तक के विचारों का समावेश एक ही धर्म में होने लगा। यही धर्म आगे चल कर किसी एक देव या व्यक्ति के नाम से नहीं, बल्कि देश के ही नाम पर हिन्दू धर्म कहलाने लगा।

अल्पविकसित विचारधारा के साथ संमिश्रण होने के कारण वैदिकधर्म का स्वरूप अवश्य ही कुछ विकृत हो गया। ऋग्वेदकालीन ऋषियों की स्वच्छ, स्पष्ट, सत्य की निकटवर्ती विचारधारा में जादू-टोना, तंत्र-मंत्र का संमिश्रण कर दिया जाने लगा। इससे वैदिक धर्म का साधारण पैमाना अवश्य ही कुछ नीचे आ गया। पर दूसरी ओर उन्हीं ऋषियों के विचारों का अल्प-संस्कृत लोगों के विश्वास में प्रवेश हो जाने से उन निम्न कोटि के लोगों की विचारधारा का स्तर बहुत ऊपर उठ आया।

इस मौके पर आर्यों की कर्तव्य-बुद्धि को जिस भावना से प्रेरणा मिली भी उसे गीता का एक सारगर्भित शब्द—'लोक-संग्रह' व्यक्त कर देता है। इस शब्द का अर्थ है—लोक-कार्यों के यथावत् रूप से निर्वाह करने की प्रवृत्ति। उन आर्यों की दृष्टि भावनाओं की अपेक्षा व्यावहारिकता की ओर कहीं अधिक थी। सच्चाई और देश के प्रति की अपनी जिम्मेवारी वे भली भाँति समझते थे। इसी काल में उन्होंने अपने को सच्चे अर्थ में ब्राह्मण बना लेने की चेष्टा की है। उनके लिए ब्राह्मण होने का मतलब शुद्ध अन्तःकरण का तथा किसी के प्रति भी घृणा और हिंसा की भावना से रहित रहना था। अपने महान् प्रयत्न में वे आर्य सफल हुए थे। इसीलिए मानव-कल्याण के लिए स्मृति की रचना करनेवाले मनु ने उनका उल्लेख करते हुए कहा है—'इस देश के अग्रजन्मा ब्राह्मणों से पृथ्वी-तल के समस्त मानवों ने अपने-अपने चरित्र को सीखा था।'[१]

आज से साढ़े चार हजार वर्ष पूर्व त्रेता और द्वापर युग के सन्धिकाल में पिछड़ी हुई जातियों को उन्नत संस्कृति के स्तर पर ले आने की चेष्टा करने वाले महान् आर्यों का हमारा देश बहुत ही ऋणी है। उनके ही भगीरथ प्रयत्नों द्वारा वैदिक धर्म की धारा, जिसका स्रोत ऋग्वेद काल में उच्च विचारों के हिमालय में ही था, अब समतल भूमि पर अवतीर्ण हुई थी। गंगा की ही भाँति इस वैदिक धर्म की धारा का भी रंग हमारे निचले प्रदेशों में आ जाने पर हिमालय के स्रोत की भाँति स्वच्छ नहीं रह गया था। पर जिस प्रकार गंगा हमारे कल्याण के लिए ही मटियाला रूप धारण करती हैं, उनके वैसा रूप धारण करने से ही हमारी भूमि बनती है, हमारे प्रदेश ऊँचे और उर्वरा बनते हैं, उसी भाँति वैदिक धर्म में भी पिछड़ी जातियों

[१] मनुस्मृति : २ । २०

के विश्वास मिल जाने पर उसके मटियाले रूप द्वारा ही हमारे 'हिन्दू धर्म' का आविर्भाव हुआ है, हमारी संस्कृति तथा सभ्यता ऊँची उठी है और हमारा देश महान् बन पाया है। वैदिक धर्म की गंगा को सर्वसाधारण के लिए भी सुप्राप्य करा देने का भगीरथ प्रयत्न करने वाले आर्यों की ही कीर्ति का परिणाम कवि रवीन्द्रनाथ अपने चित्त को शांत भाव से पुण्यतीर्थ में जाग्रत कर 'एइ भारतेर महामानवेर सागर तीरे' के रूप में देखते और गान करते हैं—

"......एइ भारतेर महामानवेर सागर तीरे
केह नाहि जाने कार आह्वाने कत मानुषेर धारा,
दुर्वार स्रोते एल कोथा हते समुद्रे हल हारा।
हेथाय आर्य्य, हेथा अनार्य, हेथाय द्राविड़, चीन,
शक हूण दल पाठान मोगल एक देहे हल लीन।
× × ×
तारा मोर माझे सबाइ बिराजे केह नहे नहे दूर,
आमार शोणिते रयेछे ध्वनिते तार विचित्र सुर॥
× × ×
एसो हे आर्य, एसो अनार्य, हिन्दू मुसलमान,
एसो हे पतित, होक अपनीत सब अपमान भार
मार अभिषेके एसो एसो त्वरा, मंगल घट हय निजे भरा
सबार परशे पवित्र-करा तीर्थ नीरे
आजि भारतेर महामानवेर सागर-तीरे॥"[1]

[1] गीताञ्जलि।

मंत्र से तंत्र

'सब लोग जीवन के कठिन तथा मांघातिक स्थलों को सुरक्षित अवतीर्ण कर जाएँ, सब आनन्द का स्वरूप देख सकें, सभी सद्बुद्धि प्राप्त करें और सब कोई सर्वत्र नंदित हों।'[1] यही भावना वैदिक धर्म को सार्वजनिक रूप प्रदान करने के काल में आर्यों के विचार में सब से प्रमुख थी। ऋग्वेदकालीन मंत्र तथा उनके द्वारा व्यक्त किए गए धर्म का आदर्श बहुत ऊँचा था, सर्वसाधारण उसे अपना नहीं सकता था, आर्य विचारक अपना वह उन्नत आदर्श अल्पोन्नत विचारवालों पर जबर्दस्ती लाद भी नहीं सकते थे, इसी से बाध्य हो उन्होंने अपनी ही उपासना पद्धति मे बहुत से परिवर्तन किए।

इस परिवर्तन के ही कारण हम ऋग्वेद के मन्त्रों को इस काल में अथर्ववेद के तंत्रपूर्ण विचारों में पलट गया देखते हैं।

अथर्ववेद में प्रतिपादित सिद्धांतों का आधार आर्य तथा आर्येतर

---

[1] सर्वस्तरतु दुर्गाणि, सर्वो भद्राणि पश्यतु।
सर्वः सद्बुद्धिमाप्नोतु, सर्वः सर्वत्र नन्दतु॥

दोनों जातियों का ही विश्वास है। संभव है इसी कारण आरंभ में, अथर्ववेद के वेदों के बीच परिगणित किए जाने में कठिनाई उपस्थित हुई थी।[1] ऋग्वेद से तुलना करने पर हम वास्तव में ही इस चौथे वेद—अथर्ववेद में बहुत भारी विभेद पाते हैं। ऋग्वेद के मंत्रों द्वारा मानवी श्रद्धा की अभिव्यक्ति की गई है। उनके द्वारा सीधे सरल भाव से अपने उपास्यदेव की स्तुति तथा सत्य तत्व की खोज की गई है। कुछ मंत्रों में रोग दूर करने, विरोधी देवताओं का कोप शांत करने तथा विरोधियों को नष्ट करने की भी इच्छा प्रकट की गई है, पर ये मंत्र उस वेद के गौण विषय से संबंध रखते हैं। ऋग्वेद के ऋषियों ने 'जादू टोने' से संबंध रखनेवाले विचारों तथा देवताओं को न तो प्रश्रय दिया है और न अपने मंत्रों द्वारा वैसे सिद्धांतों को प्रोत्साहना ही दी है। पर अथर्ववेद का मुख्य विषय ही ऋग्वेद से बिलकुल भिन्न है। इसके मंत्र अंधविश्वास के साधन बन गए हैं। इस वेद का मुख्य विषय ही जादू टोना वा विस्तृत अर्थ में कहा जाए तो—'तंत्र' बन गया है। इसका दृष्टिकोण ही ऋग्वेद से भिन्न हो गया है।

अथर्ववेद में पिछड़े विचारों का दृष्टिकोण स्पष्ट झलक जाता है। इस दृष्टिकोण के लिए जैसा स्वाभाविक है, इसमें भय की मात्रा बहुत अधिक है। रोजमर्रे के जीवन के रोग और मृत्यु जैसे शोक तथा अकाल, भूकंप आदि संकट स्वाभाविक रूप में यहाँ नहीं लिए जाते। इन सबका कारण किसी देवताविशेष का कोप ही माना जाता है। उन देवताओं को क्रूर स्वभाव वाला होने की कल्पना की जाती है इसीलिए उनकी रुचि के अनुसार बलिदान आदि कर यज्ञ पूरा कर उनको खुश करने का विधान बतलाया गया है। अपने

[1] राधाकृष्णन्: Indian Philosophy. पृ० १२२

शरीर को कष्ट दे इन देवताओं की आराधना में लगे रहने पर वे खुश हो सकते हैं और तब उनकी कृपा से मनुष्य प्राकृतिक शक्तियों पर भी विजय प्राप्त कर सकता है। इसी काल में तपस्या के स्वरूपों में हम पंचाग्नि तापने, ऊर्द्धवबाहु खड़े रहने जैसी बातें पाते हैं। मृत्यु के बाद स्वर्ग अथवा नरक जैसे लोकों में जाने की कल्पना का भी आविर्भाव इसी समय हुआ था। ये सब ख्याल अथवा विधान विकसित विचार वाले आर्यों को भले ही ग्राह्य न रहे हों, पिछड़ी अनार्य जातियों के लिये अवश्य ही बहुत अधिक महत्त्व रखते थे। उन्हीं जातियों का ख्याल रख कर ही आर्यों ने उनके अपने उपास्य से निम्नकोटि के बहुत से देवता अपना लिए थे। कुछ वैदिक देवताओं का भी स्वरूप इसी समय से आर्येतर जातियों के कल्पनानुसार पलटा जाने लगा था।

रुद्र का स्थान ऋग्वेदीय देव मंडली में बहुत नगण्य सा था, पर अथर्ववेद में उनका महत्त्व बहुत अधिक बढ़ गया है। रुद्राध्याय में कहा गया है कि विश्व में ऐसा कोई भी स्थान नहीं है, चाहे वह स्वर्गलोक में, अंतरिक्ष में, भूतल के ऊपर या भूतल के नीचे हो, जहाँ भगवान रुद्र का आधिपत्य न हो। रुद्र जगत के समग्र पदार्थों के स्वामी हैं। वे अन्नों के, खेतों के, वनों के अधिपति हैं, साथ ही साथ चोर, डाकू, ठग आदि जघन्य जीवों के भी वे स्वामी हैं। अथर्ववेद में उनके नामों में भव, शर्व, पशुपति तथा भूतपति गिनाए गए हैं।[1] पशुपति से उनके सिर्फ गाय आदि जानवरों पर के अधिकार का ही तात्पर्य नहीं है[2] बल्कि 'पशु' के भीतर मनुष्यों की

---

[1] अ० ११—२, १

[2] तवेम पन्च पशवो विभक्ता
गावो अश्वा. पुरुषाः अजावयः। अ० ११-२,६

भी गणना कर दी गई है। इस प्रकार पशु के तांत्रिक अर्थ का आभास हमें सर्वप्रथम अथर्ववेद में ही मिलता है।

तत्कालीन मनोभावनाओं के अनुरूप ही अथर्ववेद में रुद्र से प्रार्थना की गई है—'हे रुद्र, दिव्य अग्नि से हमें संत्रस्त न कीजिए। यह जो बिजली दौड़ रही है उसे मेरे सिर पर न गिरा कर कहीं अन्यत्र गिराइए।'[१] इस मंत्र से रुद्र के 'शिवत्व' का भी पता चलता है। वे भयानक पशु की भाँति उग्र तथा भयद अवश्य हैं, पर साथ ही साथ अपने भक्तों को विपत्तियों से बचाते और उनका मंगल साधन करते हैं। साथ ही उस काल में रोग निवारणों की कला भी बहुत महत्त्व रखती थी। इसीलिए रुद्र की रोग निवारण करने की शक्ति का भी अनेक बार उल्लेख आता है।

ऋग्वेद से एक बड़ा पार्थक्य अथर्ववेद में यह भी आ जाता है कि जहाँ ऋग्वेद के अधिकांश देवता पुरुष वर्ग के हैं वहाँ अथर्ववेद में उनके स्त्रीवर्ग के होने की कल्पना की गई है। प्रत्येक महान् देवता अपनी 'शक्ति' के ही द्वारा काम करते हैं यह धारणा दृढ़ कर दिये जाने के कारण आगे चलकर उसी की नींव पर तंत्रवाद की सारी इमारत खड़ी की गई। जहाँ तक स्वयं शक्ति की पूजा का प्रश्न है, इसमें सन्देह नहीं, यह पहले आर्येतर जातियों में ही प्रचलित थी और उनसे ही इसे आर्यों ने अपनाया है। आरंभ में 'दुर्गा' की पूजा विंध्य की पहाड़ियों में निवास करनेवाली कुछ जंगली जातियों के ही

[१] मा नः सं स्त्रा दिव्येनाग्निना
अन्यत्रास्मद् विद्युतं पातयैताम्। अ० ११-२, २६।
इस संबंध में विशेष जानकारी के लिए श्री बलदेव उपाध्याय लिखित 'रुद्र की वैदिक कल्पना' शीर्षक लेख विश्वभारती पत्रिका के आश्विन १९९९ वि० के अंक में देखना चाहिए।

बीच प्रचलित थी। आर्य जब उन जातियों के संसर्ग में आये तब उन्होंने 'दुर्गा' को शिव की पत्नी के रूप में मान लिया और उनका नाम उमा दिया। दुर्गा विध्वंसक शक्तियों की देवी मानी जाती थीं इसलिए उनका रुद्र की ही पत्नी बनाया जाना स्वाभाविक था। वैसा मान लेने पर फिर उनका सिलसिला ऋग्वेद की रुद्राणी, भवानी आदि देवियों से जोड़ कर उन सब का एक ही होना प्रमाणित कर गया दिया।

आर्येतर जातियों के देवी-देवताओं के अपना लिए जाने के पूर्व आर्य धर्म पूर्णतया निगम-वेद मूलक था पर उनके अपना लिए जाने के बाद से वह निगमागम मूलक बन गया। आगम[1] तंत्र पर आश्रित है इसीलिए इन्हें प्राचीन ग्रंथों में वेदबाह्य ही माना गया है। शाक्त आगम को तो बहुतेरे विद्वान पूर्णतया अवैदिक ठहराते हैं। आर्येतर जातियों की उपासना-पद्धति अपना लिए जाने के कारण आगे चलकर और भी बहुत से तंत्रमतों का आविर्भाव हुआ जिनके आचार, पूजा-प्रकार वैदिक पद्धति से एकदम विपरीत ठहरते हैं।

इस काल की विचारधारा के प्रतीक स्वरूप अथर्ववेद का उदाहरण लेने पर उसमें एक ओर यदि हम तंत्र आदि से संबंध रखते आर्येतर जातियों के विश्वास को प्रधानता रखते पाते हैं तो साथ ही दूसरी ओर आर्य विचारधारा की परिपाटी को भी उसी सिलसिले में पुष्ट होते देखते हैं। ऋग्वेद में ही हमें रुद्र और शिव की अभिन्नता प्रतिपादित किये जाने के प्रमाण

---

[1] वाराही तंत्र के अनुसार सृष्टि, प्रलय, देवतार्चन, सर्व-साधन, पुरश्चरण, षट्कर्म (शान्ति, वशीकरण, स्तंभन, विद्वेषण, उच्चाटन तथा मारण) साधन तथा ध्यान योग—इन सात लक्षणों से युक्त ग्रन्थों को आगम कहते हैं।

मिलते हैं।[1] इस कल्पना में सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर यह सिद्धांत प्रतिपादित किया गया दीखता है कि प्रलय में भी सृष्टि के बीज निहित रहते हैं, संहार में भी उत्पत्ति का निदान छिपा रहता है। यही सूक्ष्म वैदिक विचार अथर्ववेद में रुद्र के स्थूल रूप में चित्रित कर दिखलाया गया है। उग्ररूप के हेतु जो देव 'रुद्र' हैं, वे ही जगत के मंगल साधन करने के कारण 'शिव' हैं। जो रुद्र है वही शिव है।

कुछ अंश में अथर्ववेद ने ऋग्वेद की वैदिक विचारधारा को और भी आगे बढ़ाया है। इसके प्रमाण हमें उसके स्कम्भ-सूक्त अथवा उच्छिष्ट-सूक्त में मिलते हैं। ये सूक्त ब्रह्म की व्यापकता तथा आत्मा से अभिन्नता के सिद्धांत प्रतिपादित करते हैं। ये ही विचार हमें वैदिक विचारधारा के सर्वोच्च ज्ञान की ओर खींच ले जाते हैं। उपनिषदों के ब्रह्मतत्व तथा ब्रह्मात्मैक्यवाद की यही पूर्वपीठिका है।

इन विशुद्ध वैदिक विचारों के सिवा अथर्ववेद में जहाँ पर आर्येतर तंत्र का प्रतिपादन किया गया है उस पर भी वैदिक विचारपद्धति की छाप फीकी नहीं है। आर्येतर तंत्र संबंधी विचार अवश्य ही अपनाये गये हैं पर उनके बुरे व्यवहार की बार-बार निन्दा की गयी है। यथासंभव उनका उपयोग पारिवारिक अथवा ग्राम्य जीवन सुखी बनाने के कार्यों में किये जाने के ही विधान बतलाये गये हैं।

पूरे अथर्ववेद के विचारों की जाँच करने पर हम इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि अंधविश्वास, तंत्रमत तथा पिछड़ी जातियों के उपास्य

---

[1] 'रुद्र के बाण हमलोगों को स्पर्श न कर दूर से ही हट जायँ तथा हमारे पुत्र और सगे संबंधियों के ऊपर उस दानशील की दया सतत बनी रहे।'

परिणो हेती रुद्रस्य वृज्याः—ऋ० २-३३, १४

निम्न कोटि के देवताओं को अपना लेने पर भी आर्य विचारकों ने अपनी विवेकशक्ति किसी भी हालत में क्षीण नहीं की थी। उन सब विश्वासों, मतों तथा देवताओं को उन्होंने एक सर्वव्यापी महानशक्ति के अधीन ही रहते देखा था। उनके अनुसार—'कुछ लोग अपना ईश्वर पानी में पाते हैं, दूसरे स्वर्ग में देखते, और कुछ लोग सासारिक वस्तुओं में ढूँढते हैं, पर बुद्धिमान सच्चे ईश्वर को, जिसकी महानता सर्वत्र व्याप्त है, आत्मा में ही पाते हैं।'[१] उन आर्यों की यह विवेक-पूर्ण बुद्धि ही निम्न सास्कृतिक स्तर पर की जातियों को ऊपर खींच लाने में सफल हुई थी तथा 'मंत्रों से तंत्र' पर उतर जाने पर भी उनका अपना सांस्कृतिक विकास का रास्ता रुका नहीं था बल्कि उस ओर उनके अग्रसर होने की गति तेज ही होती गई थी।

---

[१] श्री भगवान दास के "वैदिक धर्म" मे ऐसे बहुत से उदाहरण दिये गये हैं।

कर्मकांड की ओर

वैदिक जीवनधारा को तत्कालीन सर्वसाधारण के सांस्कृतिक विकास की भूमि सींचने के लिए निम्न स्तर पर उतरते तथा अबाध रूप से आगे बढ़ते देख कुछ आर्य विचारकों का सशंकित होने लग जाना स्वाभाविक था। अब तक आर्य जीवन के कोई बँधे नियम नहीं थे। बाह्य तथा विचार दोनों ही जगत में वे अब तक अछूते क्षेत्र की ओर अपना रास्ता बनाते और बिना किसी हिचक के आगे ही बढ़ते जा रहे थे। भयावने से भयावने संकटापन्न पथ अथवा सामने के दृश्य उन्हें अँटका रखने में असमर्थ ही हो रहे थे। उल्टे उनसे आर्य अन्वेषकों को नये प्रयासों के लिये ही प्रेरणा मिलती थी। पर अपने चारो तरफ पिछड़ी विचारधारा के लोगों का ही बाहुल्य देख उनसे अपनी तुलना करने लग जाना भी उन आर्यों के लिए स्वाभाविक था। वैसी तुलना के मुहूर्तों में उनके भीतर स्वाभाविक रूप से ही ऐसी शंकाएँ उठने लगीं कि उस आर्येतर-बहुल वायुमंडल में घिरे रह कर कहीं उनकी अपनी विशिष्टता ही तो न खो जायगी? आर्य विचारकों के मन की इस स्वाभाविक आशंका ने ही उन्हें अपने जीवन को एक नये दृष्टिकोण से देखने, निर्धारित करने तथा

नियमित बनाने के लिये बाध्य किया। उनके जीवन का यह नया दृष्टिकोण था—*'कर्मकांड' का।*

कर्मकांड के स्तर पर आ जाने पर वैदिक वायुमंडल में बहुत बड़ा परिवर्तन आ जाता है। ऋग्वेद काल के सरल ताजे विचारों का *स्थान इस काल में कृत्रिमता लेने लग जाती है।* धर्म संबंधी भाव पिछड़ जाते हैं, सिर्फ उनके वाह्य प्रकाश ही प्रधान बन जाते हैं। इसी समय से वेद के दो विभाग हो जाते हैं—मंत्र तथा ब्राह्मण। *'किसी देवता विशेष की स्तुति में प्रयुक्त होने वाले अर्थ स्मारक वाक्य* को मंत्र कहते हैं तथा यज्ञानुष्ठान को विस्तार पूर्वक वर्णन करने वाले ग्रंथ को ब्राह्मण कहते हैं।'[१] मंत्रों के समूह को संहिता कहते हैं। *ब्राह्मण ग्रंथों में यज्ञ-यागादि के* अनुष्ठान का खूब विस्तृत तथा परिनिष्ठित वर्णन किया गया है। उनका प्रधान विषय ब्रह्मन्—बढ़ने वाला, यज्ञ है इसी कारण उनका ब्राह्मण नामकरण किया गया है। इन ब्राह्मणों का जिक करते समय यजुर्वेद और सामवेद का भी उनमें स्वाभाविक ही समावेश हो जाता है। यज्ञ की वेदी निर्माण करने के समय के सब नियम यजुर्वेद में दिये गये हैं; सामवेद में ऋग्वेद से वे मंत्र चुन कर लिये गये हैं जिनका यज्ञ के अवसर पर गान किया जाता था।

ब्राह्मणों के काल में उपासना-पद्धति सिर्फ मंत्रों का उच्चारण करना ही रह गयी थी। उनके उच्चारण द्वारा जो यज्ञ किये जाते थे वे ही इस विश्व ब्रह्माड में सब से अधिक महत्त्व रखने वाले माने जाने लगे थे। उनके विश्वास के अनुसार यह सारा विश्व यज्ञ पर ही निर्भर करता था। उनके बिना सूर्य का भी उदय नहीं हो सकता था। सौ अश्वमेध यज्ञ कर लेने पर मनुष्य भी इन्द्र का सिंहासन

[१] *श्री बलदेव उपाध्याय—भारतीय दर्शन पृ० ५१*

प्राप्त कर ले सकता था। यज्ञ द्वारा ही देवता मनुष्यों पर प्रसन्न हो सकते थे और उन्हें सांसारिक भोग या स्वर्गीय सुख की प्राप्ति करा दे सकते थे। इन यज्ञों के द्वारा साधारणतया भौतिक पदार्थों की प्राप्ति के लिए प्रार्थना की जाती थी, यदि सब से बड़ा कोई आदर्श रहता था तो वह देवताओं की भाँति अमरत्व की प्राप्ति होता था।

देवताओं की श्रेणी में इस काल में यजुर्वेद द्वारा विष्णु को ही प्रधानता दी गई थी। शतपथ ब्राह्मण ने उन्हें ही यज्ञ का प्रतीक मान लिया। आगे चलकर नारायण और विष्णु एक ही देव के दो नाम मान लिये गये। इनके सिवा शिव, रुद्र, प्रजापति, विश्वकर्मा, अग्नि तथा ब्रह्मा की भी यज्ञप्रधान युग के मुख्य देवताओं में गिनती की जाने लगी।

यज्ञ की विधि भी बड़ी जटिल होती थी। इसलिए उसके संपादन के लिए विशेष रूप से दक्ष विशेषज्ञों की आवश्यकता पड़ती थी। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए ही आर्यों के बीच पुरोहितों का एक विशेष वर्ग ही बन गया। धीरे-धीरे इनका महत्व इतना अधिक बढ़ गया कि शतपथ ब्राह्मण में इनके विषय में एक स्थान पर कहा गया है—'वस्तुतः दो प्रकार के देवता होते हैं, देवगण तो देवता हैं ही पर उनके बाद वे पुरोहित जो वेदाध्ययन करते और कराते हैं वे मनुष्य-देवता हैं।'[1]

आर्य मंडली में पुरोहितों के इतना अधिक महत्व दिए जाने का मुख्य उद्देश्य अवश्य ही वेदों की रक्षा—आर्य संस्कृति, आर्यजाति के विशेषत्व की रक्षा ही थी। उस जमाने में वेदाध्ययन किसी ग्रंथ का अध्ययन कर नहीं बल्कि आचार्य के समक्ष बैठ उनसे सुन कर ही किया जाता था। लिखित न रहने के कारण वेद-वाक्यों में परिवर्तन

[1] श० प० ब्रा० २—२ २ ६

आ जाने की संभावना थी। ऐसे परिवर्तन न लाये जा सकें इसलिए वेदों की पवित्रता के संबंध में नियम बना देना आवश्यक था। ऋग्वेद में वाक् (वाणी) एक देवी—'वचन देवी' का नाम था, पर ब्राह्मण काल में उन्हें ही वेदों की माता बतलाया गया है। वेद मंत्रों की उत्पत्ति उनसे ही बतलाई गई और ऋषि उनके द्रष्टा बतलाए गए। वेदों के संबंध के ये ही विचार आगे चलकर उनके ईश्वर प्रदत्त या अपौरुषेय कहे जानेवाले विचारों के आधार बने। भारतीय दर्शन शास्त्र में भी 'वेद स्वतः प्रमाण हैं' से संबंध रखते उनके 'शब्द प्रमाण' होने की विचारधारा की भी इसी काल में नींव पड़ी। आस्तिक-नास्तिक का विभेद भी यहीं से आरंभ हुआ। आस्तिक वे माने जाने लगे जो वेदों की प्रामाणिकता में विश्वास करते थे; जो इसके कायल न होकर निन्दक थे उन्हें नास्तिक कहा गया।[1]

आर्यों के कर्मकांड की ओर अग्रसर होने का यह काल आर्य संस्कृति की रक्षा की दृष्टि से बड़े ही महत्व का रहा है। यही समय था जब भारतीय सभ्यता और संस्कृति का स्वरूप विशेष निश्चित हुआ। इसी समय आर्य विचार और व्यवहार पद्धति के वे स्थूल नियम बने जो उन्हें दूसरी जातियों से पृथक करते और उनकी निजी विशिष्टता प्रदर्शित करते हैं।

जहाँ तक इन कार्यों के सिलसिले का प्रश्न है, उनका सूत्रपात अवश्य ही बहुत पहले, आयत्रेता या उसके भी पहले हो चुका था। संभव है वैदिक विचार रक्षा का प्रश्न भी इसी समय उठा हो और तब से विचारकों का ध्यान उस प्रश्न की ओर उत्तरोत्तर अधिक आकृष्ट होता गया हो। फिर भी विचार और व्यवहार पद्धति के स्थूल नियमों का सार्वजनिक और बहुत अंश में सख्ती से पालन होना हम त्रेता के

[1] मनुस्मृति—२-११-नास्तिको वेदनिन्दकः।

आखिरी और द्वापर के प्रथम चरण में ही देखते हैं। इसीलिए यह काल आर्य संस्कृति के इतिहास में युगपरिवर्तनकारी प्रमाणित हुआ है।

ब्राह्मणों के इस यज्ञप्रधान काल में ही हम आर्य विचारकों को वेदों को उसी भाँति मानते देखते हैं जिस प्रकार भटकते हुए नाविक निर्दिष्ट लक्ष्य पर पहुँचने के लिए दिशा दिखानेवाले ताराओं की ओर देखते हैं। आर्येतर वायुमंडल में उन्हें अपने जीवन से संबंध रखते मुख्य प्रश्नों का निपटारा करने तथा उन्हें वैदिक परिपाटी पर ले चलने के लिए निश्चित दिशा प्रदर्शित करनेवाले वेद ही थे। उन्हीं के आधार पर इस समय आर्यों के बीच उन प्रथाओं, संस्थाओं, व्यवस्थाओं और परिपाटियों की स्थापना हुई जो आगे चल कर उस भारतीय व्यक्तित्व में परिणत हो गई जिन पर की वैदिक संस्कृति की छाप आज हजारों वर्ष बाद तक मिटने नहीं पाई है।

धर्म और कर्तव्य

वैदिक धर्म के 'सनातन' बन जाने के विशेष कारण रहे हैं। मनुष्य के कर्तव्य-अकर्तव्य का विचार द्वारा पूरा निर्णय कर तब उन्हें व्यवहार में लाने और उनके द्वारा सामाजिक जीवन को प्रभावित करने की व्यवस्था इस धर्म की विशेषता रही है। वैदिक आर्यों के अनुसार धर्म के परस्पर निर्भर करने वाले दो रूप हैं—व्यक्तिगत और सामाजिक। किसी आदमी का अन्तःकरण इन्द्रियों के ही वशीभूत न रहे बल्कि जीने का वास्तविक उद्देश्य समझ सके इस शिक्षा के लिए व्यक्तिगत धर्म जानने की उसे आवश्यकता रहती है। सामाजिक हित के खयाल से सामाजिक धर्म वैसा ही आवश्यक है। ऐसे मौकों पर आर्यों ने धर्म की परिभाषा यही की है—'*जो सब जीवों को समुचित सुचारु व्यवस्था में रखता है वही धर्म है।*'

इस धर्म का उत्तरदायित्व साधारण श्रेणी के आदमी भी अनुभव कर सकें इसलिए वैदिक धर्म में मनुष्यों के कर्तव्य बतलाए गए हैं। जन्म से ही हर आदमी देवता, ऋषि, पितर, मनुष्य तथा पशु के प्रति ऋणी रहता है। उन ऋणों का चुकता करते जाना हर आदमी का कर्तव्य है। देवताओं का ऋण यज्ञ से, ऋषियों का अध्ययन से, पितरों

का संतानोत्पत्ति से, मनुष्यों का आतिथ्य आदि से तथा पशुओं का उन्हें पालन कर चुकाया जा सकता है। अपना यह कर्तव्य पूरा करते जाने वाले लोग ही वैदिक समाज में आचारवान् और अच्छे गिने जाते थे। जिनके ऋण मनुष्य पर हैं उन सब का अंश अपने भोजन में से निकाल देने पर ही भोजन करने की व्यवस्था थी। लोगों के ये दैनिक कार्य उनके स्वभाव को नि.स्वार्थ भावना से जीवन-यापन करने की प्रेरणा दिया करते थे।

धर्म पालन के दैनिक व्यवहारों द्वारा ही आर्य विचारधारा पर चलनेवाले यह अनुभव करने लगते थे कि किसी व्यक्ति का बड़ा आदर्श इस संसार में सुख की प्राप्ति नहीं बल्कि अपने कर्तव्य पूरा करते चलना ही है। यह अनुभव किसी व्यक्ति को धर्म के नाम पर बाध्य करके नहीं बल्कि उसके अनुसार आचरण करने की शिक्षा दे कर ही कराये जाते थे। आर्यों के यज्ञ-याग प्रधान युग में ही इस शिक्षा की उपयुक्त व्यवस्था की गई थी। उस शिक्षा की प्राप्ति और उसका व्यावहारिक जीवन में पालन होने का सिद्धात सामने रहने के ही कारण उस युग में मनुष्य का जीवन चार आश्रमों में बाँट दिया गया था। ये चार—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास-जीवन के मुख्य पड़ाव जैसे माने जाते थे।

इनमें सब से पहला ब्रह्मचर्याश्रम था। यह तैयारी करने का काल रहता था। इसमें शरीर तथा मन दोनों के गठन का खयाल रखा जाता था। इस अवस्था में ब्रह्मचारी गुरु के घर निवास करता था। वहाँ वह सफाई, पवित्रता और सद्व्यवहार की शिक्षा ग्रहण करने के साथ साथ वेदाध्ययन करता था। वह ब्रह्मचारी चाहे राजा का पुत्र हो या साधारण किसान का—दोनों के लिए ही सामाजिक सहानुभूति के व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करने का विधान था। इस ज्ञान

के लिए विद्यार्थी को भिक्षाटन कर अपनी आजीविका चलानी पड़ती थी। इससे उसके मस्तिष्क में यह बात जम जाती थी कि धन और ऐश्वर्य ही जीवन के सफल बनाने के साधन नहीं हैं। उनके भी ऊपर सचाई तथा वैदिक परिपाटी है जिसके पालन करने से जीवन सार्थक होता है। इस क्षेत्र में भी विद्यार्थी की शिक्षा एकांगी नहीं होती थी। जीवन में उसे क्या करना है और उसकी क्षमता कितनी है उसे देख कर ही इस काल में उसे भावी जीवन-संघर्ष के लिए तैयार किया जाता था।

गुरु-गृह में शिक्षा प्राप्त कर लेने के बाद आदमी गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता था। यहाँ वह यह अनुभव करता था कि—सिर्फ वह अकेले का शरीर ही नहीं बल्कि स्त्री और बच्चे भी इसी व्यक्ति के अंग हैं। इस आश्रम में वह परिवार की आजीविका का भार उठाता है और साथ ही साथ समाज का एक स्तंभ बन जाता है। पारिवारिक जीवन और सामाजिक कर्तव्य दोनों के ही पालन करते समय उसे निःस्वार्थ बुद्धि रखनी पड़ती है। गृहस्थ का सर्वप्रधान धर्म यह बन जाता है कि वह एक के हित की अपेक्षा अनेकों के हित पर सदैव ध्यान रखे। व्यक्ति परिवार के लिए, परिवार जाति के लिए, जाति राष्ट्र के लिए और राष्ट्र संसार के हित के लिए जीवन धारण करे। कुलाभिमान, देशाभिमान और अंत में पूरी मनुष्य जाति के हित में यदि विरोध आने लगे तो साम्यबुद्धि से परिपूर्ण नीति-धर्म का यह महत्वपूर्ण और विशेष कथन है कि उच्च श्रेणी के धर्मों की सिद्धि के लिए निम्न श्रेणी के धर्मों को छोड़ दे।[१]

[१] शास्त्रों में इस संबंध के विवेचन के लिए लोकमान्य तिलक लिखित—गीतारहस्य (पृ० ३६६ विशेषकर) देखना चाहिए। वहाँ ही महाभारत से भी श्लोक उद्धृत किए गए हैं।

तीसरा आश्रम वानप्रस्थ का था। वानप्रस्थ लोग नगर तथा गांवों के पड़ोस के आश्रमों में रहते थे। इस आश्रम में आकर लोग सांसारिक आसक्तियों के त्याग देने की चेष्टा में लग जाते थे। गृहस्थाश्रम में रहते समय जन्म,धन, सौभाग्य या किसी भी क्षेत्र में अपने को ऊँचा मानने से संबंध रखता, अहंकार उनके भीतर जम गया रहता तो वे इस आश्रम में आ कर उससे पूर्णतया छुटकारा पा जाने की चेष्टा करते थे।

वानप्रस्थी अपनी चेष्टाओं में सफलता प्राप्त कर लेने पर संन्यास ग्रहण कर लेते थे। इस आश्रम में आते आते मनुष्य की सब भौतिक आकांक्षाएँ छूट गई रहती थीं। वे प्रेम, घृणा, विद्वेष आदि सब भावों के परे पहुँच गये रहते थे। सर्वस्व त्याग कर घूमनेवाले भिक्षुओं के रूप में वे सारे मनुष्य समाज के साथ ही एकात्म बोध करने लगते थे। मनुष्य तो क्या पशु-पक्षियों तक के लिए उनके भीतर असीम दया का भाव रहता था। इस समय उनकी सारी शक्ति मानवी प्रेरणाओं के उत्थान सूचक कार्यों में ही लगने लगती थी। वैदिक विचारधारा के अनुसार संन्यासी ही मनुष्यता की

महाभारत में विदुर ने धृतराष्ट्र को उपदेश देते हुए कहा है कि युद्ध में कुल का क्षय हो जायगा। इसलिए दुर्योधन की ज़िद्‌ रखने के लिए पांडवों को उनका प्राप्य राज्यभाग न देने की अपेक्षा यदि दुर्योधन न सुने तो उसे अपना पुत्र होते हुए भी छोड़ देना उचित है। इसी के समर्थन में नीतिवाक्य कहा गया है :

त्यजेदेकं कुलस्यार्थे, ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे, आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्॥

पराकाष्ठा पर पहुँचा महानात्मा होता था। उनका राष्ट्र के जीवन पर भी बहुत प्रभाव रहता था। आर्यों की मंडली में कोई भी धनी, पराक्रमी वा राज्य साम्राज्य का अधिकारी संन्यासी की कोटि का सम्मान पाने योग्य नहीं समझा जाता था। एकमात्र संन्यासी ही सब वासनाओं के परित्यक्त होने के कारण शरीरांत होने पर फिर इस संसार में लौट कर न आनेवाले होते थे। वे मोक्ष प्राप्त कर लेते थे। उसी की प्राप्ति वैदिक धर्म का अंतिम लक्ष्य समझा जाता था।

मनुष्य के कर्तव्यों का ज्ञान कराने के लिए वैदिक आर्यों के समाज में आश्रमों के सिवा वर्णव्यवस्था थी। वास्तव में इस व्यवस्था का उद्भव समय की आवश्यकताओं के कारण हुआ था। आरंभ में इसका स्वरूप भी जटिल नहीं था। वर्ण संबंधी नियम शुरू शुरू में मनुष्यों की प्रकृति-विभिन्नता का ख्याल रख कर और उनकी विशेषताओं का सामाजिक कार्य में समुचित उपयोग करने के विचार से बनाये गये थे। यह विभेद विचारवान, योद्धा, शिल्प-व्यवसायी और कौशलहीन लोगों का था। ये चारों एक ही समाज के विभिन्न अंग समझे जाते थे। ऋग्वेद ने सामाजिक शरीर के उनके क्रमशः सिर, हाथ, देह और पाँव होने का जिक्र किया है। उस काल में वर्ण की श्रेष्ठता या हीनता का विचार नहीं था। यदि कुछ विचार था तो वह विशेषाधिकार का नहीं बल्कि उत्तरदायित्व का था। प्रत्येक आदमी अपनी अपनी क्षमतानुसार समाज की सेवा करता था। जो विचार-सम्बन्धी कार्यों के लिये अधिक उपयोगी थे उन्हें संस्कृति रक्षा के कार्य सौंपे गए थे; वे ब्राह्मण कहलाए। जो युद्ध में बहादुरी दिखला सकते थे और देश-रक्षा संबंधी कार्यों में कुशल थे वे क्षत्रिय हुए। विशः के साधारण लोग जो दैनिक जीवन के कार्यों के लिए तथा उसका सिलसिला चलाने के लिए अधिक

उपयुक्त थे वे वैश्य बने । जिनमें कोई भी विशेष गुण नहीं थे और इस कारण जिन्हें सेवा-संबंधी कार्य सौंपे गए थे वे शूद्र की श्रेणी में गिने गए । जब इन सब श्रेणियों के लोग समाज के प्रति अपना-अपना विशेष कर्तव्य समुचित रूप से पूरा करते जाते थे तब समझा जाता था कि समाज धर्मानुयायी चल रहा है ।

पूर्व वैदिक काल में जन्मना वर्ण व्यवस्था नहीं थी । उस समय पुरोहित का पेशा अवश्य ही अलग हो गया था पर उनकी कोई अलग जाति नहीं बनी थी । आर्यों की किसी भी श्रेणी का उपयुक्त आदमी पुरोहित बन सकता था । अवश्य ही अपने कार्यों की जिम्मेवारी अनुभव करना उनके लिए लाजिमी रहता था । उन्हें 'सांसारिक प्रतिष्ठा' को विष के समान अपने से दूर रखना पड़ता था । गृहस्थाश्रम में आजाने पर भी उन्हें धन से दूर रह शरीर तथा मन को पवित्र बनाये रहना पड़ता था ।

पर त्रेता और द्वापर के संधिकाल में—आर्यों के यज्ञप्रधान युग में आकर परिस्थिति बदल जाती है । इस समय तक आर्यों का प्रसार हमारे देश के सुन्दर प्रदेशों तक हो गया था और उन प्रदेशों में बसनेवाली आर्येतर जातियों से उनका विवाह संबंध बहुत बड़े पैमाने पर चलने लगा था । इस रक्त मिश्रण के कुछ बुरे परिणाम देख आर्यों ने इस समय आर्येतर जातियों से आर्यों का विवाह-संबंध वर्जित करने की चेष्टा की । आर्येतर जातियों को शूद्र की श्रेणी में परिगणित किया गया और उनसे आर्यों के बाकी तीनों वर्णों का—जो अब 'द्विज कहलाने लगे, विवाह-संबंध निषेध कर दिया गया । इसी समय से वर्णव्यवस्था 'जाति भेद' का रूप लेने लगी । आरंभ में जो व्यवस्था सिर्फ सामाजिक उपयोगिता के खयाल से बनाई गई थी इस समय से उसकी गणना 'धर्म' में होने लगी । वर्ण विभेद धीरे-धीरे कर्मणा से

जन्मना बनने लगा। आगे चलकर असवर्ण विवाह करनेवालों को हीन भी देखा जाने लगा।

पर इतना होते हुए भी वैदिक काल में किसी भी समय आजकल की तरह बंद दायरे नहीं थे। महाभारत के वन पर्व में स्पष्ट की कहा गया है—'विवाह के मामले में इतना अधिक संमिश्रण हो चुका है कि जाति की कसौटी जन्म के आधार पर ठीक नहीं उतरती। इसकी कसौटी शील वा चरित्र ही होना चाहिए। आदि मनु ने भी घोषित कर दिया है कि यदि चरित्र का खयाल नहीं रखा जाये तो वर्ण विभेद कोई मतलब ही नहीं रखता।' [१] मनु के विधान के अनुसार भी यदि कोई आदमी अच्छे लोगों जैसा आचरण करता और पवित्रता का जीवन बिताता है तो वह निम्न जन्म के संस्कारों की बाधाओं के ऊपर चला जाता है। महाभारत में भी ऐसे ही विचार एक स्थान पर व्यक्त किये गये हैं—'उन्नत बनने की परीक्षा जन्म वा विद्याध्ययन में नहीं बल्कि आचरण में ही होती है।' [२]

तत्कालीन सामाजिक दृष्टि से उपयोगी इन आश्रमों तथा वर्णों की व्यवस्था पर दृष्टि डालने पर भी हम यही देखते हैं कि इनमें मनुष्य के आचरण पर ही सबसे अधिक जोर दिया गया है। आचरण के ही बलपर नीच जाति का आदमी ऊँची जाति में स्थान पा सकता था तथा ऊँची जाति का आदमी नीचे की श्रेणी में गिर जा सकता था। ऐसे परिवर्तन मनु को भी मान्य थे। आचरण के ही आधार पर यज्ञ-प्रधान युग में हम आर्यों के साधारण आचार-व्यवहार आदि में

---

[१] वन पर्व—अध्याय १८२

[२] वन पर्व—अध्याय ३२४

पहले की अपेक्षा अधिक परिष्कृति आती देखते हैं। इससे यह भी पता चलता है कि उनकी कर्मकांड संबंधी सब व्यवस्थाएँ भाव शून्य सिर्फ मशीन की भाँति चलनेवाले नियम नहीं थे। शतपथ ब्राह्मण में स्पष्ट ही कहा है—देवता एक नियम मानते हैं—सत्य। इससे च्युत होने पर उन्हें प्रतिज्ञा के देवता अग्नि और वचन के देव वाक् के अप्रसन्न हो जाने का भय रहता था। इसकी मर्यादा के संबंध में शत पथ ब्राह्मण में ही कहा गया है—'जो आदमी यह (सत्य आदि की महिमा) नहीं जानता उसे तप या यज्ञ दानादि से स्वर्ग प्राप्ति नहीं हो सकती।' ढोंग की भी बार-बार निन्दा की गई है। व्यभिचार देवताओं के प्रति—खासकर वरुण के प्रति—पाप माना गया है।

कर्मकांड संबंधी सब नियमों का मुख्य उद्देश्य किसी श्रेणी विशेष का शोषण करना, उन्हें दबाव में रखना या घृणा करना हरगिज नहीं था। यदि इस भाँति के स्वार्थ या अत्याचार को प्रश्रय दिया गया होता तो वैदिक धर्म जैसा स्थायी बन पाया है कदापि बन नहीं सकता था। जितने भी प्रकार के यज्ञ किये जाते थे उनमें अधिकांश का लक्ष्य व्यक्तिगत लाभ न रहकर सामाजिक लाभ ही रहा करता था। वर्ण-व्यवस्था के कारण वर्ण विशेष में अहंकार का भाव आ जा सकता है। उसे रोकने के लिए सबको समान रूप से देखे जाने पर वैदिक धर्म में बहुत जोर दिया गया है। विष्णु पुराण का मत है—'सर्वत्र समान देखना चाहिए क्यों कि समानता का संबंध या समत्व ईश्वर की आराधना है।' शुचि, संयम, सत्य आदि के नियम हर वर्णवालों के लिए लाजिमी थे। असल में वर्ण व्यवस्था का उद्देश्य यही था कि हर श्रेणी के लोग समाज के हित में अपनी पूरी शक्ति द्वारा अधिक से अधिक सहयोग दे सकें।

कर्मकांड के युग में भी आर्य जितना बाहरी उतना ही आंतरिक

पवित्रता का विचार रखने के आदी थे। उनकी यही वास्तविक पवित्रता वैदिक धर्म के 'सनातन' बन जाने का रहस्य है। आर्य विचारधारा में मनुष्यों के कर्तव्य और 'धर्म' की एकता का ज्ञान ही द्वापर युग के भयानक आँधी-पानी में आर्य जाति के सांस्कृतिक विकास की नौका को सुरक्षित घाट पर पार लगा देने में समर्थ हुई है। उनका यही ज्ञान न सिर्फ आज से साढ़े चार हजार वर्ष पूर्व बल्कि हमारे देश के और भी कई महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घुमावों पर युग-परिवर्तन लानेवाला प्रमाणित हुआ है।

वैदिक परिपाटी

'पृथ्वी, नदी, वृक्ष, पर्वत, सिद्ध, देवता और महर्षि—ये सभी काल का अनुसरण करते हैं। प्रत्येक युग के अनुसार इनकी देह, बल और प्रभाव में न्यूनाधिकता होती रहती है।···इसी सिलसिले में जब लोक की स्थिति गिर जाती है, तब उसके प्रवर्तक आर्यों का भी क्षय हो जाता है।'[1] इस ऐतिहासिक सत्य के अनुसार ही राष्ट्रों के जीवन में भी परिवर्तन आया करते हैं, उनकी कायापलट होती रहती है, वे एक ढंग के जीवन से और एक ढंग के जीवन में प्रवेश करते हैं।

रामायण काल के अभूतपूर्व सुन्दर सुखी जीवनयापन के बाद हमारे देश में भी बहुत बड़े-बड़े परिवर्तन आने लगे।

श्री रामचंद्रजी के काल के अयोध्या जैसे नगरों का वैभव भी जो आर्यावर्त्ती इतिहास के प्रथम समृद्धिशाली युग का प्रतीक सा बन गया था इस समय जाता रहा। उसके स्थान पर आर्यावर्त्ती आर्यों के महान् संघर्ष का काल आरंभ हुआ। यह संघर्ष आर्यों के

---

[1] महाभारत—वनपर्व

मानसिक तथा भौतिक दोनों ही जीवन को उत्तरोत्तर पूर्णतया आच्छादित करने लगा। रामचंद्र के बाद यह नए प्रकार के संघर्षों का जो युग आरंभ हुआ उसी का नाम अनुश्रुतिकारों ने द्वापर युग दिया है।

द्वापर युग के आरंभ से ही आर्यों को अपनी विशेषत्व रक्षा के संग्राम में जुट जाना पड़ा। इसी आधार पर राज्यशक्तियों का संघर्ष भी आरंभ हो गया। इतिहास भी इसी समय से इस नये युग के प्रतीक सूचक 'महामानव' की खोज और उसकी गढ़न में लग गया। युग धर्म ने उस महामानव का कर्तव्य निश्चित किया था—आर्यजीवन की विशृंखलता में ही शृंखला प्रस्थापित करना। यह कार्य आसान न रहने के कारण इतिहास को अपने मनोवांछित व्यक्ति का प्रादुर्भाव संभव बना पाने में पूरे सहस्र वर्ष लग गए थे। पर अपने इस कार्य के सिलसिले में ही इतिहास ने जो सबसे बड़ा परिवर्तन हमारे देश में ला दिया वह था—हमारे देश की विविधता में एक अपूर्व एकता।

इस काल में आर्यों के सामाजिक और धार्मिक विचारों के आर्येतर विश्वास तथा व्यवहार-प्रणाली से भीषण टक्कर लगने के कारण उनके मानसिक जगत में भयानक परिवर्तन आने लगे। साथ ही साथ, इन परिवर्तनों के अनुरूप ही आर्यों के भौतिक जीवन का भी भारी पलटा खाना अनिवार्य बन गया। उनके राजनैतिक

लाभ अवश्य हुआ कि राजनैतिक शृंखलाओं से संबंध रखते प्रश्नों में उनका दिशा विहीन नौका की तरह भटकना बंद हो गया। उस समय के आर्य राजनैतिक नेता अपने देश की पुरानी वैदिक परिपाटी में ही तत्कालीन परिस्थित्यनुसार परिवर्तन कर उनका अनुसरण करने लगे। उनके इस निश्चित दिशा में अग्रसर होते जाने का ही यह परिणाम हुआ कि उस काल में हमारा देश एकीकरण की ओर ही अधिकाधिक खिंचता गया। इसी काल में आर्यों के दिमाग में यह बात दृढ़ रूप से जम गई कि इस देश में बसनेवाले लोगों में चाहे जितनी भी विभिन्नता क्यों न हो, इस देश का स्वार्थ ही उन्हें उन विभिन्नताओं के बावजूद एक कार्यकारी एकता की नीति अपनाने के लिए बाध्य करता है। साथ ही उस नीति का आधार भी वैदिक परिपाटी ही हो सकता है। वैदिक तथा अवैदिक परिपाटियों के बीच हम द्वापर में जितने भी संघर्ष छिड़ते देखते हैं उनमें आखिरी विजय वैदिक की ही हुई है और उसी के आधार पर हमारे देश का बहुत कुछ सुनिश्चित रूप में एकीकरण भी होता गया है।

मानसिक तथा भौतिक दोनों ही जीवन को उत्तरोत्तर पूर्णतया आच्छादित करने लगा। रामचंद्र के बाद यह नए प्रकार के संघर्षों का जो युग आरंभ हुआ उसी का नाम अनुश्रुतिकारों ने द्वापर युग दिया है।

द्वापर युग के आरंभ से ही आर्यों को अपनी विशेषत्व-रक्षा के संग्राम में जुट जाना पड़ा। इसी आधार पर राज्यशक्तियों का संघर्ष भी आरंभ हो गया। इतिहास भी इसी समय से इस नये युग के प्रतीक सूचक *'महामानव' की खोज और उसकी गढ़न में लग गया।* युग धर्म ने उस महामानव का कर्त्तव्य निश्चित किया था—आर्यजीवन की विशृंखलता में ही शृंखला प्रस्थापित करना। यह कार्य आसान न रहने के कारण इतिहास को अपने मनोवांछित व्यक्ति का प्रादुर्भाव संभव बना पाने में पूरे सहस्र वर्ष लग गए थे। पर *अपने इस कार्य के सिलसिले में ही इतिहास ने जो सबसे बड़ा* परिवर्तन हमारे देश में ला दिया वह था—हमारे देश की विविधता में एक अपूर्व एकता।

इस काल में आर्यों के सामाजिक और धार्मिक विचारों के आर्येतर विश्वास तथा व्यवहार-प्रणाली से भीषण टक्कर लगने के कारण उनके *मानसिक जगत में भयानक परिवर्तन आने लगे।* साथ ही साथ, इन परिवर्तनों के अनुरूप ही आर्यों के भौतिक जीवन का भी भारी पलटा खाना अनिवार्य बन गया। उनके राजनैतिक जीवन में भी पहले तत्कालीन विचारधारा के अनुरूप ही आर्य, आर्येतर तथा उनके संमिश्रण संबंधी प्रणालियों की खींचातानी शुरू हुई। *यह खींचातानी द्वापर युग के आर्यावर्त्ती राज्यों के परस्पर* संघर्ष काल में प्रमुख स्थान बनाती रही है। पर इस क्षेत्र में भी आर्यों ने अपने विचारक्षेत्र की ही भाँति वैदिक व्यवहार तथा नीति का आश्रय ग्रहण किया। इससे और कुछ नहीं तो उनका इतना

लाभ अवश्य हुआ कि राजनैतिक शृंखलाओं से संबंध रखते प्रश्नों में उनका दिशा विहीन नौका की तरह भटकना बंद हो गया। उस समय के आर्य राजनैतिक नेता अपने देश की पुरानी वैदिक परिपाटी में ही तत्कालीन परिस्थित्यनुसार परिवर्तन कर उनका अनुसरण करने लगे। उनके इस निश्चित दिशा में अग्रसर होते जाने का ही यह परिणाम हुआ कि उस काल में हमारा देश एकीकरण की ओर ही अधिकाधिक खिंचता गया। इसी काल में आर्यों के दिमाग में यह बात दृढ़ रूप से जम गई कि इस देश में बसनेवाले लोगों में चाहे जितनी भी विभिन्नता क्यों न हो, इस देश का स्वार्थ ही उन्हें उन विभिन्नताओं के बावजूद एक कार्यकारी एकता की नीति अपनाने के लिए बाध्य करता है। साथ ही उस नीति का आधार भी वैदिक परिपाटी ही हो सकता है। वैदिक तथा अवैदिक परिपाटियों के बीच हम द्वापर में जितने भी संघर्ष छिड़ते देखते हैं उनमें आखिरी विजय वैदिक की ही हुई है और उसी के आधार पर हमारे देश का बहुत कुछ सुनिश्चित रूप में एकीकरण भी होता गया है।

रामायणकाल के बाद

रामचंद्र अवश्य ही अपने काल के चक्रवर्ती राजा थे। उनका साम्राज्य समृद्धिशाली होने के साथ-साथ बहुत विस्तृत था। उस काल के अपने देश का प्रामाणिक इतिहास हमें वाल्मीकि रामायण में मिल जाता है। पर विशेषज्ञों का अनुमान है कि वाल्मीकि ने रामायण के छः कांड ही लिखे थे। रामायण की फलश्रुति हमें युद्ध-कांड के आखिर में ही मिल जाती है। उसके सातवें—उत्तरकांड की रचना बाद में हुई है। पर फिर भी वह बहुत नया नहीं है। उसी में हमें रामचंद्र के बाद का भी कुछ वृत्तांत मिलता है जिसकी पुष्टि महाभारत तथा दूसरे आधारों से भी हो जाती है।

रामचंद्र के बाद उनका साम्राज्य आठ टुकड़ों में बँट गया था। महाभारत में इसी का उल्लेख है—'रामचंद्र ने अपने और भाइयों के अंशरूप दो दो पुत्रों के द्वारा आठ प्रकार के राजवंश की स्थापना कर परधाम गमन किया।'[1] इन आठ राज्यों का विशेष वर्णन भी उपलब्ध है।

रामचंद्र का पुत्र कुश सब भाइयों में ज्येष्ठ था। राम के आदेश

---

[1] द्रोणपर्व—५६।३०

से वह कुशावती में अभिषिक्त हुआ। उत्तरकांड रामायण के अनुसार यह नगरी विन्ध्य पर्वतरोध पर थी। यही उस समय के कोशल की नई राजधानी निर्मित हुई। पर कुश ने कुछ काल ही कुशावती में निवास कर अयोध्या को ही पुनः अपनी राजधानी बनाया। 'वीरान' पड़ जाने के कारण अयोध्या में जो क्षति हो गई थी शिल्पियों ने उसे ठीकठाक कर दिया। कुशावती नगरी ब्राह्मणों को दे दी गई।

कुश के काल तक आर्यों का पूर्व दिशा की ओर का अभियान समाप्त नहीं हो पाया था। उस काल में भी हमें उस ओर 'इन्द्र और दैत्यों' (आर्यों तथा आर्येतर) के बीच युद्ध चलते रहने के वृत्तांत मिलते हैं। ऐसे ही एक युद्ध में इन्द्र की सहायता करता हुआ (आर्य पक्ष) कुश रणभूमि में मारा गया।

कुश के छोटे भाई लव को कोशल का उत्तरी भाग मिला था जिसकी राजधानी श्रावस्ती कर दी गई थी। इस श्रावस्ती नगरी ने आगे चल कर हमारे देश के इतिहास में काफी ख्याति प्राप्त कर ली थी। बुद्ध के समय प्रसेनजित् वहाँ का राजा था। बौद्ध साहित्य में उसका तथा उसकी राजधानी श्रावस्ती का बहुधा उल्लेख मिलता है।

उत्तरकांड में ही एक स्थान पर पुरोहित गार्ग्य राम से कहते हैं—'सिन्धु के दोनों ओर यह गन्धर्व देश परम शोभायमान है, इसे आप विजय करें।'[१] वर्तमान पेशावर से लेकर डेरागाजीखाँ तक का प्रदेश उस समय गंधर्व देश कहलाता था। आगे चल कर उस प्रदेश का विस्तार भी हुआ था। गार्ग्य की राय सर्वसम्मति से माद्य कर लिये जाने पर भरत-पुत्रों तक्ष और पुष्कल ने अपने पिता के साथ केकय-देश के लिए प्रस्थान किया। फिर वहाँ से चल कर उन लोगों

---

[१] उत्तरकांड—१००।१०-१३।

ने गांधार देश जीता। तब यहाँ तक्ष के नाम से तक्षशिला और पुष्कल के नाम से पुष्कलावत नगर बसाये गए। भारतीय इतिहास में इन दोनों नगरों की बड़ी प्रसिद्धि रही है। तक्षशिला बड़े नाके पर बसाई गई थी, वह पंजाब से कश्मीर तथा कपिश देश के रास्ते पर अपना कब्जा रखती थी। आगे चल कर यह विद्या, व्यापार तथा राजनैतिक दृष्टि से बड़े महत्व का केन्द्र बना। पुष्कलावत आधुनिक काबुल और स्वात नदी के संगम पर बसाई गई थी। कपिश देश तथा स्वात की उत्तरी दून के रास्ते यहाँ होकर जाते थे।

उत्तरकांड के ही अनुसार रामराज्य के आरम्भ की एक बड़ी घटना लवण वध है। यह लवण यमुना के पश्चिम एक यादव राज्य का शासक था। वह यमुना तीर वासी ऋषियों को बहुत त्रसित किया करता था। उन्हींकी प्रार्थना पर राम की आज्ञा से लवण-वध किया गया था। उन दिनों लवण के प्रदेश में सम्राट मधु के नाम से मधुवन नाम का बहुत बड़ा जंगल था। शत्रुघ्न ने वहाँ जंगल साफ कर मथुरा नगरी बसाई। शत्रुघ्न के छोटे पुत्र शूरसेन के नाम से इस नगरी के चारो ओर का प्रदेश शूरसेन कहलाने लगा। शूरसेन के बड़े भाई—सुबाहु को विदिशा का राज्य मिला।

लक्ष्मण के दोनों लड़के—अंगद और चन्द्रकेतु को भी हिमालय की तराई के प्रदेश मिले थे।

रामचन्द्र के साम्राज्य के इस बँटवारे के वृत्तांत से भी पता चलता है कि उसका विस्तार पूर्वी भारत से लेकर पश्चिम में काबुल और स्वात नदियों तक तथा दक्षिण में विंध्य से लेकर हिमालय के प्रदेशों तक था। इन प्रदेशों के रंगमंच पर रामायण काल में आर्यावर्त्ती इतिहास का बहुत सुन्दर चित्र आँका जा चुका था। इतिहास को अपना वह काम पूरा कर लेने पर और आगे के काम में लग जाना

था। इसके लिए अपनी पटभूमि उसने उत्तरभारत को ही बनाए रखा पर उस क्षेत्र की नायकत्व बदल दी। इस काल के बाद अयोध्या ने कुछ भी नहीं किया। वास्तव में वहाँ के अन्तिम बड़े सम्राट रामचन्द्र ही थे। उनके बाद—'न तो वे राम रहे और न वह अयोध्या।'

इतिहास अपना आगे का भव्य चित्र तैयार करने के लिए अब उसके ही उपयुक्त और और स्थानों में नए नए नायक ढूँढ़ने और उनका निर्माण करने लगा।

सुदास और संवरण

इतिहास की प्रेरणावश ही संभवतः द्वापरयुग के आरम्भ से ही उस युग विशेष के उपयुक्त संतानप्राप्ति की लोग अभिलाषा रखते थे। उत्तर पांचाल के तत्कालीन राजा सृञ्जय नारद जी से हाथ जोड़कर कहते हैं—'भगवान! मैं ऐसा पुत्र चाहता हूँ जो यशस्वी, तेजस्वी और शत्रुओं को दबाने वाला हो।' [1]

द्वापर युग के आरम्भ में ही आर्यावर्त्त राज्यशक्तियों की सत्ताएँ डावाँडोल होने लगी थीं। किसी प्रदेश पर वहाँ के राजा का आधिपत्य उसके वंश की मर्यादा पर न निर्भर कर पूर्णतया उसके अपने सामर्थ्य पर ही निर्भर करता था। इसलिए किसी सामर्थ्यवान व्यक्ति के लिए इस काल में अपना राज्य विस्तार कर लेना अपेक्षाकृत आसान हो गया था।

इस सुयोग का समुचित लाभ उठाने के लिए इस काल में उत्तर पांचाल के राजा सृञ्जय का पौत्र—सुदास सब से पहले आगे आया। उसने आक्रमण कर दक्षिण पांचाल और कोशल की सीमा तक के

---

[1] महाभारत—द्रोणपर्व।

प्रदेश पर अधिकार जमा लिया । हस्तिनापुर के पौरव राज्य पर भी इसने आक्रमण किया । इस समय वहाँ का राजा संवरण था । आदि पर्व की पहली वंशावली के अनुसार उस पर पांचाल राज ने दस अक्षौहिणी सेना लेकर हमला किया था ।[1] संवरण को हस्तिनापुर छोड़ कर भागना पड़ा । सुदास ने उसे यमुना किनारे दोबारा परास्त किया । तब संवरण सिंधु नदी की ओर भाग गया ।

सुदास की इन विजयों के कारण उसके विरोधी राजाओं का गुट तैयार हो गया था । इस गुट के अधिकांश राजा आधुनिक संयुक्तप्रदेश, पंजाब तथा पश्चिमोत्तर-सीमांत प्रदेश के तत्कालीन शासक थे । सुदास ने इन सब राजाओं को परुष्णी (रावी) नदी के किनारे इकट्ठे हार दी । इस विजय से सुदास के समय उत्तर पांचाल वंश अपनी समृद्धि के शिखर पर पहुँच गया ।

पर पांचाल-वंश की यह विजय अधिक दिनों तक स्थायी नहीं रही । संवरण भी चुप बैठ रहने वाले आदमी नहीं थे । महाभारत के आदि पर्व में इनके सम्बन्ध में कहा गया है—'जैसे आकाश में सबके पूज्य और प्रकाशमान सूर्य हैं वैसे ही पृथ्वी में संवरण थे ।' उसी पर्व में इनके सम्बन्ध में दिए गए विवरण से पता चलता है कि ये बारह वर्ष मात्र ही अपने राज्य से बाहर रहे । अपने निर्वासन के वे दिन उन्होंने तक्षशिला से परे की पर्वत शृंखला में व्यतीत किए होंगे । वहाँ ही उनका तपती पौर्विकी से विवाह हुआ था । यह तपती सूर्य-कन्या भी कही जाती है ।

संवरण की अनुपस्थिति में उनके राज्य की अवस्था बहुत खराब हो गई थी । इंद्र ने वहाँ वर्षा बंद कर दी । अनावृष्टि के कारण प्रजा का नाश होने लगा । ओस तक न पड़ने के कारण अन्न की पैदावार

[1] आदिपर्व—८६ । ३३

सर्वथा बंद हो गई। प्रजा मर्यादा तोड़कर एक-दूसरे को लूटने-पीटने लगी। तब वशिष्ठ मुनि की कृपा से संवरण ने अपना नष्ट राज्य फिर प्राप्त किया। ये ही वशिष्ठ संवरण के पुरोहित थे। वे ही संपती-संवरण को हस्तिनापुर वापिस ले गये। सुदास उस समय तक जाता रहा था। इस समय उसके उत्तराधिकारी उसके पुत्र सहदेव तथा पौत्र सोमक थे। संवरण को उनसे उसका अपना राज्य ही वापिस नहीं मिला वरन् उसने अब उत्तर पांचाल पर भी विजय प्राप्त कर ली। तब इन्द्र भी पूर्ववत् वर्षा करने लगे। आर्यावर्त के वे प्रदेश समृद्धि-शाली बनने लगे।

सुदास और संवरण जैसे राजाओं के वृत्तांत से हमें आर्यावर्त्ती इतिहास में उस युग का आविर्भाव हो गया दीखता है जब राज्य-विस्तार कर पाना राजा की अपनी योग्यता तथा सामर्थ्य की बातें बनने लगी थीं। ये दोनों राजा द्वापरयुग के प्रथम चरण में हुए थे इसलिए इनका काल चौबीसवीं शताब्दी ई० पू० होना जान पड़ता है।

राजाओं का कौशल

चौबीसवीं शताब्दी ई० पू० के काल में भी राजाओं को अपना लक्ष्य पूरा करने के लिए बहुत तरह के कौशल से काम लेना पड़ता था। अपने पक्ष से लड़ने वालों के भीतर पराक्रम और शूरता के भाव लाने की भी विधिवत प्रेरणा दी जाती थी, और उसी पर बहुत कुछ विजय भी निर्भर करती थी। राजाओं के इस कौशल और योद्धाओं को प्रेरणा दिए जाने के बहुत से इस काल के दृष्टांत हमें महाभारत में मिलते हैं। शांति पर्व के निन्नानवे अध्याय में भीष्म पितामह युधिष्ठिर से कहते हैं—

"राजा प्रतर्दन और मिथिलापति जनक ने जिस ढंग से युद्ध किया था, शूर पुरुषों के उत्साह के विषय में पंडित लोग उस प्राचीन इतिहास का ही दृष्टांत रूप से वर्णन किया करते हैं। संग्राम-यज्ञ में दीक्षित मिथिलापति जनक ने अपने योद्धाओं को स्वर्ग और नरक दिखलाते हुए उन लोगों से कहा था—'हे योद्धा लोगों! तुम लोग युद्ध में भय रहित शूर पुरुषों का यह प्रकाशमान लोक देखो—यह स्थान गंधर्व-कन्याओं से घिरा सब कर्म सिद्ध करने वाला और अक्षय है। दूसरी ओर, युद्ध से भागने वाले पुरुषों के लिए यह नरक

उपस्थित है, इसमें पतित होने पर सदा अयश हुआ करता है। इस-लिए तुम लोग सच्ची त्यागबुद्धि अवलंबन कर शत्रुओं पर विजय प्राप्त करो, अप्रतिष्ठित नरक के वशवर्ती मत बनो।' योद्धाओं ने राजा जनक के ऐसे वचन सुन युद्ध में उन्हें हर्षित कर शत्रुओं पर विजय प्राप्त की थी।"

पुराणों में दी गई वंशावली के अनुसार ये राजा जनक और काशीराज प्रतर्दन पौरव वंशीय राजा संवरण के समकालीन थे। भीष्म द्वारा किए गए उनके युद्ध के समय के वर्णनों से पता चलता है कि उस समय राजा को अपने निजी गुणों से ही अपना राज्य सुदृढ़ रखने अथवा उसका विस्तार कर पाने में पूरी सफलता नहीं मिल सकती थी। राजा को अपनी सेना को अपने पक्ष में लड़ने के लिए प्रेरित करते समय उसके सामने स्वर्ग नरक आदि का चित्र खींच कर उसे प्रभा-वित करना पड़ता था। युद्ध में सेना को टिकाए रखने के लिए ही वीरता की भावना पर अधिक जोर दिया जाने लगा था। राजा जनक का उदाहरण दे भीष्म ने उसके साथ ही कहा है—'तीनों लोकों के बीच पराक्रम से श्रेष्ठ और कुछ भी नहीं है, क्योंकि शूर पुरुष सब का ही पालन किया करते हैं और शूर पुरुषों से ही सब प्रतिष्ठित रहता है।'

युद्ध के अलावा शांति के समय भी अपना राज्य-कार्य सुव्यव-स्थित बनाए रखने में राजाओं को दृढ़ता तथा कूटनीति के कौशल से काम लेना पड़ता था। इस संबंध में भी हमें महाभारत के शांतिपर्व में कालकवृक्षीय मुनि और कोशल के क्षेमदर्शी राजा का एक लंबा संवाद मिलता है। कौशल की राजवंशावली के अनुसार यह क्षेम-दर्शी रामपुत्र कुश से छठी पीढ़ी में हुए थे। इससे इनके भी ई० पू० तेईसवीं-चौबीसवीं शताब्दी में होने का अनुमान किया जा सकता है।

रामायण काल की सीधी सरल विचारधारा से हट कर इस काल के राजा जिस ढंग की राज-कार्य सम्बन्धी कूटनीति से काम लेने लगे थे उसका कालकवृक्षीय-क्षेमदर्शी सम्वाद में बहुत ही स्पष्ट परिचय मिल जाता है। शांति पर्व में भीष्म ने इस प्रसंग में कहा है—"जो भी मनुष्य राजा की आर्थिक उन्नति करे, राजा को उसकी सदा रक्षा करनी चाहिये। यदि मंत्री खजाने से धन की चोरी करता हो और कोई सेवक या तटस्थ मनुष्य इस बात की सूचना देने आवे तो उसकी बात एकान्त में सुननी चाहिए और मंत्री से उसकी रक्षा करनी चाहिए, क्योंकि धन हड़पने वाले मंत्री अवसर ऐसे लोगों को मार डालते हैं।...... इस विषय में कालकवृक्षीय मुनि और कौशल्यराज के संवाद रूप प्राचीन इतिहास का लोग उदाहरण दिया करते हैं। सुना है कि एक बार कोशल देश के राजा क्षेमदर्शी के यहाँ कालकवृक्षीय नाम के एक मुनि पधारे। वे बंद पिंजड़े में एक कौआ लिये राज्य का समाचार जानने के लिए उस राजा के राज्य में कई बार चक्कर लगा चुके थे। घूमते समय वे लोगों से कहते थे—'सज्जनो! तुम लोग भी कौए की विद्या सीखो। मैंने सीखी है इसलिए कौए मुझे भूत और भविष्य की बातें बता दिया करते हैं।'......उस समय उन्होंने राजकार्य में नियत किए गये कर्मचारियों की बहुत सी अनुचित कार्रवाइयाँ देखीं।...... तब वे कौए को साथ लेकर राजा से मिलने आये और बोले—'मैं इस राज्य की सारी बातें जानता हूँ।' सबसे पहले वे राजमंत्री से जाकर बोले—'मेरा कौआ कहता है तुमने अमुक स्थान पर अमुक काम किया है, राजा के खजाने से चोरी भी की है, इसलिए शीघ्र ही राजा के पास चलकर अपराध स्वीकार करो।' इसी प्रकार उन्होंने और कर्मचारियों के भी दोष उद्घाटन कर दिए।...इस प्रकार जब मुनि ने राजकर्मचारियों

का तिरस्कार किया तो सब ने मिलकर मुनि के सो जाने पर रात में उनके कौए को मरवा डाला।

"सवेरे उठने पर जब मुनि ने कौए को मरा देखा तो राजा क्षेमदर्शी के पास जाकर उन्होंने कहा—'......मेरा यह कौआ आप के ही कार्य में मारा गया है।......जैसे हिमालय की कन्दरा में ठूंठ, पत्थर और काँटे होते हैं, उसके भीतर सिंह और व्याघ्रों का निवास होता है और इन्हीं सब कारणों से उसमें प्रवेश करना तथा रहना कठिन हो जाता है, उसी प्रकार दुष्ट अधिकारियों के कारण इस राज्य में भी किसी का रहना मुश्किल है।...समझदार मनुष्य को तो जल्दी ही यहाँ से खिसक जाना चाहिए। सीता नाम की एक नदी है जिसमें नाव ही डूब जाती है, ऐसी ही आपके यहाँ की राजनीति भी है।......इसीलिए अब मैं यहाँ रहना नहीं चाहता।' तब राजा ने मुनि से कहा—'......जिस तरह राजदंड को मैं अच्छी तरह धारण कर सकूँ और मेरे द्वारा अच्छे ही कार्य होते रहें वह सब सोचकर आप मुझे कल्याण के मार्ग पर लगाइए।' मुनि ने कहा—'पहले तो कौए के मारने का जो अपराध है इसे प्रकट किए बिना ही एक-एक मंत्री को उसका अधिकार छीनकर दुर्बल कर डालिए। इसके बाद अपराध के कारण का पूरा-पूरा पता लगा कर क्रमशः एक-एक व्यक्ति को मौत के घाट उतार दीजिये। एक-एक करके मारने के लिये इसलिए कहता हूँ कि बहुत से लोगों पर जब एक ही तरह का दोष लगाया जाता है, तो वे सब मिल कर एक हो जाते हैं, उस दशा में वे बड़े-बड़े कंटकों को भी मसल डालते हैं। अतः यह गुप्त विचार कहीं दूसरों को प्रकट न हो जाय, इसी भय से ये बातें बता रहा हूँ।......यह राज्य दैवेच्छा से आपको प्राप्त हुआ है, तो भी आप इसे मंत्रियों पर छोड़ कर क्यों भूल कर रहे हैं?'......कोशल राज

ने पुरोहित के हितकारी वचन सुने और उनके आज्ञानुसार सब कार्य किये, इससे उन्होंने समस्त भूमंडल पर विजय प्राप्त कर ली।"

इसी कौशलराज क्षेमदर्शी को और एक बार कठिन विपत्ति का सामना करना पड़ा। विदेहराज से हार जाने पर उनकी सैन्य शक्ति नष्ट हो गई, और वे राजभ्रष्ट हो गये। तब वे कालकवृक्षीय मुनि के पास गये और अपने उद्धार का उनसे उपाय पूछा। इस मौके पर कालकवृक्षीय ने उन्हें जिस कूटनीति का उपदेश दिया है यह त्रेता युग की नीति से सर्वथा भिन्न तथा द्वापर में राज्य शक्तियों के डाँवा-डोल होते रहने के समय की ही उपयुक्त नीति है। यह नीति अवश्य ही, दूसरी ओर तत्कालीन आर्यों के जीवन के विकटतर संघर्ष की द्योतक है।

कालकवृक्षीय मुनि ने क्षेमधन्वा से कहा— 'अब मैं तुम्हें राज प्राप्ति के लिये एक नीति बता रहा हूँ, यदि इसके अनुसार कार्य करोगे तो तुम्हें पुनः महान राज्य प्राप्त हो सकता है। काम, क्रोध, हर्ष, भय और दंभ छोड़ कर शत्रु की सेवा करो, उसके सामने हाथ जोड़ कर मस्तक झुकाओ। उत्तम तथा विशुद्ध व्यवहार से उसके विश्वास-पात्र बनो। विदेहराज जनक यद्यपि तुम्हारे शत्रु हैं तथापि यदि तुम उन्हें प्रसन्न कर सके तो तुम्हें बहुत सा धन देंगे, क्योंकि वे सत्य-प्रतिज्ञ हैं।······फिर तुम मित्रों की सेना इकट्ठी करना और अच्छे अच्छे मंत्रियों से सलाह लेना। इसके बाद शत्रु के शत्रु से मिल कर शत्रु सेना का विध्वंस करा डालना।

'अथवा अत्यंत दुर्लभ उत्तम पदार्थों, स्त्रियों, ओढ़ने-बिछाने के सुन्दर वस्त्रों, अच्छे-अच्छे पलंग, आसन और सवारियों, बहुत धन खर्च कर के बनवाये हुए महलों, तरह-तरह के रसों, सुगंधित पदार्थों और फलों में शत्रु को आसक्त करो तथा इसमें भाँति-भाँति के पशु-

पक्षी पालने का शौक पैदा करो, जिससे इन व्यसनों में अधिक धन खर्च करने के कारण शत्रु की आर्थिक शक्ति नष्ट हो जाय।

'बुद्धिमानों के विश्वासभाजन बन कर शत्रु के राज्य में भ्रमण करो और कुत्ते, तथा कौओं की तरह चौकन्ने रह कर मित्र धर्म का पालन करो। शत्रु से इतने बड़े-बड़े कार्य प्रारम्भ कराओ जिनका पूरा होना बहुत कठिन हो। बलवान के साथ उसका विरोध करा दो। बड़े-बड़े बगीचे, बहुमूल्य पलंग, बिछौने तथा भोग विलास के अन्य कामों मे खर्च करा कर सारा खजाना खाली करा दो। शत्रु का कोप क्षीण होते ही वह वश में आ जाता है। हो सके तो वैरी को विश्वजित् यज्ञ में लगा कर उसके द्वारा दक्षिणा रूप में सर्वस्व दान करा दो। इससे तुम्हारा मनोरथ सिद्ध होगा। फिर किसी मोक्ष-धर्म के ज्ञाता पुरुष को बुलाकर शत्रु के समक्ष कुछ ऐसा उपदेश कराओ, जिससे वह राज्य के परित्याग की इच्छा करे। यदि उसका शरीर नीरोग हो तो सिद्ध औषध का प्रयोग कर उसे मरवा डालो। उसके घोड़े, हाथी और मनुष्यों को भी कृत्रिम उपायों से मौत के घाट उतार दो। ये तथा और भी बहुत से दंभपूर्ण उपाय हैं, जिनसे बुद्धिमान मनुष्य शत्रु का सर्वनाश कर सकता है।'

अब तक की वैदिक विचारधारा में कालकवृक्षीय मुनि के बताये कपट और दंभ के रास्ते की गिनती अधर्म में की जाती थी। संभव है आर्यों के आर्येतर जातियों से जटिल संघर्ष में पड़ जाने के समय इस ढंग की कुटिल भावनाओं और व्यवहारों का उदय हुआ हो। पर क्षेमदर्शी राजा के काल तक वे भावनाएँ और व्यवहार वैदिक संस्कारों को दबा देने में समर्थ नहीं हुई थीं। इसलिए क्षेमदर्शी ने मुनि से कहा—'मैं कपट और दंभ का आश्रय ले कर जीवित नहीं रहना चाहता। अधर्म से मुझे बहुत बड़ी संपत्ति मिलती हो, तो भी मैं

उसकी इच्छा नहीं करता। इन दुर्गुणों का तो मैंने पहले ही त्याग कर दिया है, जिससे किसी का मुझ पर संदेह न हो और मेरी तथा सबकी भलाई हो। क्रूरता का बर्ताव करके मुझे इस जगत में जीवित रहने की इच्छा नहीं है। अतः मैं अधर्म का आचरण नहीं कर सकता और आपको भी ऐसा करने के लिए मुझे उपदेश नहीं देना चाहिये।'

आर्य सदाचार के उपयुक्त राजा का यह उत्तर सुन मुनि को बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने विदेहराज को अपने यहां बुलवा कर कहा—'''क्षेमदर्शी महात्मा है, हमने सत्पुरुषों के मार्ग का आश्रय लिया है। यदि तुम धर्म को साक्षी देकर इसे सम्मानपूर्वक अपनाओगे तो यह तुम्हारे सब शत्रुओं को अपने अधीन कर लेगा। मेरी बात मानकर तुम युद्ध किए बिना ही इसे वश में करो, मंत्री बनाकर इसके हित साधन में लगे रहो। किसी की विजय या पराजय सदा नहीं रहती, इसलिए जैसे दूसरों की संपत्ति छीन कर स्वयं भोगते हो, वैसे ही दूसरों को भी अपनी सम्पत्ति भोगने का अवसर देना चाहिए। जो दूसरों का संहार करते हैं, उन्हें अपने संहार होने का भी सदा ही भय बना रहता है।'

विदेहराज ने मुनि की बात मान ली। क्षेमदर्शी को वे अपने साथ घर लेते गए और उसके साथ सिर्फ मित्रता ही नहीं की बल्कि अपनी पुत्री का भी ब्याह कर दिया। दहेज में नाना प्रकार के रत्न भी भेंट किए। यह कहानी समाप्त करते समय भीष्मपितामह का भी वचन है—'यही राजाओं का परम धर्म है, उन्हें परस्पर मेल करके ही रहना चाहिये।'

राजाओं के परस्पर व्यवहार, उनकी राज्यव्यवस्था संबंधी नीति

तथा सेना को अपने हितों के लिए युद्ध करते समय समरभूमि में टिकाए रहने के कौशल पर लक्ष्य रखते समय यह स्पष्ट हो जाता है कि द्वापर युग में जितनी वैदिक धर्म की जानकारी थी उतनी ही व्यावहारिक जीवन के उपयोग के लिए कुटिल नीति में अभिज्ञता की भी आवश्यकता रहती थी। वैदिक धर्म और कुटिल प्रवृत्ति के विरोध आरंभ हो जाने के प्रमाण भी हमें द्वापर युग के प्रथम चरण से ही मिलने लगते हैं। आर्य विचारधारा के भीतर की इस विरोध की भावना का ही आगे चलकर विस्फोट होता हम देखते हैं भयानक 'महाभारत' के रूप में।

भारतवंश का उत्कर्ष

किसी जाति के गहरे राजनैतिक तथा सांस्कृतिक संघर्ष के काल में उसके पथ-प्रदर्शन का काम आसान नहीं होता। महान राजनैतिक उथल पुथल के समय राष्ट्र की जीवन-शक्ति, उसकी प्रेरणाएँ विभिन्न रूप धारण कर आपस में ही संघर्ष करने लग जाती हैं। इन संघर्ष के मौकों पर राष्ट्र की असली प्राणशक्ति पर ही खतरा आया रहता है। इस खतरे से बचाव के सिलसिले में राष्ट्र की जीवन-धारा में नई गति ले आना आवश्यक हो जाता है।

आर्यावर्त्त के इतिहास में रामायण काल के बाद की दो शताब्दियाँ राष्ट्र के सामने बड़ी विकट समस्याएँ ले आनेवाली थीं। इस काल में राष्ट्रीय जीवन के विकास की रफ्तार कायम रखने के लिए कई तरह के महान कार्य पूरे करने की आवश्यकता थी। इसके लिए इस युग में भारतवंश ही सबसे आगे आया। राष्ट्र के महान संकट के समय इस वंश ने सच्चे पथ-प्रदर्शक का काम किया था। इसीलिए इसकी कीर्ति भी महान बन गई। शतपथ ब्राह्मण में कहा

गया है—'भारतवंश जैसी महानता न तो पहले के और न उनके बाद के ही लोगों ने प्राप्त की है।'[१]

भारतवंश की महान कीर्ति तथा उत्कर्ष काल कुरु से ही प्रारंभ हुआ माना जाता है। इनके ही वंशज कौरव कहलाए। महाभारत के आदि पर्व के अनुसार संवरण की पत्नी तपती के गर्भ से कुरु का जन्म हुआ था। महाभारत के ही और एक प्रकरण से कुरु के काल का भी संकेत मिलता है। अभिमन्यु-पौत्र जनमेजय के राजा बनाए जाने के समय उसके मंत्री कहते हैं—'एक सहस्र वर्ष से कुरुकुल का राज्य चला आ रहा है।'[२] जनमेजय १३६४ ई० पू० गद्दी पर बैठे थे इससे पता चलता है कि कुरु का काल चौबीसवीं शताब्दी ई० पू० रहा होगा।

चौदहवीं से सोलहवीं शताब्दी ई० पू० का हमारे देश का इतिहास महाभारत में विशद रूप से वर्णन किया गया है। सोलहवीं के पहले की शताब्दियों के इतिहास की जानकारी के लिए भी हमें बहुत अंश में इसी ग्रंथ पर निर्भर करना पड़ता है। पर सामग्री अवश्य ही बहुत संक्षिप्त है। हमें भारतवंश द्वारा फिर भी उसी सामग्री के सहारे हमारे देश के हित में संपादित किए गए महान कार्यों का भी पता चलता है।

महाभारत के सिवा भी चौबीसवीं से सोलहवीं शताब्दी के बीच के काल से संबंध रखती जितनी सामग्री उपलब्ध है उसमें भारतवंश के ही प्रथम स्थान ग्रहण करने तथा हमारे देश की जटिल समस्याओं को सुलझाने में उनके ही अथक परिश्रम करते रहने के हमें यथेष्ट प्रमाण मिलते हैं।

---

[१] शा० प० भा० १३, ५, ४

[२] इदं वर्षसहस्राय राज्यं कुरुकुलागतम्। आ० पर्व ४५।१६

महाभारत तथा पुराण दोनों के ही अनुसार कुरु बड़े प्रतापी तथा तपस्वी राजा थे। इन्होंने अपने तप से कुरुक्षेत्र को पवित्र बनाया था, दूसरे शब्दों में—इन्होंने ही सर्वप्रथम कुरुक्षेत्र का प्रदेश कृषियोग्य बनाया था। पहले वहाँ भारी जंगल रहा होगा। उनकी इस तपस्या के ही कारण उस समय से सरस्वती के पड़ोस का प्रदेश कुरुक्षेत्र कहलाने लगा।

भौगोलिक दृष्टि से यह कुरुक्षेत्र आर्यावर्त्त का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण नाका है। यहाँ पर ही हमारे देश की अनेक भाग्यनिर्णायक लड़ाइयाँ लड़ी गई हैं। पश्चिम में सिन्धु-प्रणाली, पूर्व में गंगा-प्रणाली तथा दक्षिणापथ—इन तीनों का संगम कुरुक्षेत्र में ही होता है। कुरु के द्वारा इस क्षेत्र के कृषियोग्य बना दिए जाने पर हमारे देश के एक अंचल से दूसरे अंचल के बीच का यातायात मार्ग बहुत सुविधाजनक बन गया। अब ये मार्ग सिर्फ थोड़े-से साहसी लोगों के ही नहीं, बल्कि आम लोगों के लिए भी सुगम बन गए। इससे आर्यावर्त्त के विभिन्न प्रदेशों के विभिन्न प्रकृतिवाले लोगों का एकत्रित हो पाना आसान हो गया। यही आर्यावर्त्त के जनसमूह के एकीकरण तथा उस समूह के उत्कर्ष की ओर अग्रसर होने की बुनियाद बनी। कुरु का यह महान् कार्य एक ऐसे काल में हुआ जब इसकी हमारे देश की उन्नति के लिए नितांत आवश्यकता थी। उनके इस कार्य में हम पराक्रम तथा तपस्या का वास्तव में ही अद्भुत ढंग का समावेश हो गया देखते हैं। उस तपस्या तथा पराक्रम के ही परिणाम-स्वरूप सरस्वती से पश्चिम से लेकर पांचाल तथा प्रयाग के परे तक के सिर्फ प्रदेश ही एक अंचल में नहीं आ गए, बल्कि उन सुदूर सीमाओं के निवासी भी अपनी आपस की गहरी एकता अनुभव करने लग गए।

कुरु ने जो महान् कार्य आरंभ किया, उसके परिणाम हमें प्रगति

की दिशा में बहुत दूर तक खींच ले जानेवाले हुए हैं। पर उस कार्य का सिलसिला या क्रम हमेशा एक ही गति से काम नहीं करता रहा है। उसमें समय समय पर ढिलाई और तीव्रता आती रही है, पर सौभाग्य की बात रही है कि गति का सिलसिला कभी भी पूर्ण रूप से दबने नहीं पाया है।

स्वयं कुरु के बाद ही आर्यावर्त्त के सुदूर प्रदेशों तथा लोगों को और भी निकट ले आने का कार्य ढीला पड़ गया था; पर वह ढिलाई चिरस्थायी नहीं रह सकती थी। तत्कालीन परिस्थिति के द्वारा बाध्य किए जाने के कारण कुरु के कई शताब्दी बाद—अठारहवीं शताब्दी में वह कार्य पुनः नए वेग से आरंभ हुआ। इस समय कार्य का ताँता आगे बढ़ा ले चलनेवाले कौरववंशीय राजा वसु हुए। यह कुरु से बहुत पीढ़ी बाद में हुए थे। इनका ध्यान दक्षिण की ओर गया। पुराणों ने इन्हें चैद्योपरिचर—चैद्यों के ऊपर चलनेवाले की उपाधि दी है। यादवों के चेदि राज्य पर उन्होंने विजय प्राप्त की थी। अपनी राजधानी भी उन्होंने आधुनिक बाँदा के करीब कहीं शुक्तिमती (केन) तट पर शुक्तिमती नगरी को ही बनाया था। जायसवाल के अनुसार इनका काल १७२७ ई० पू० के आसपास था।

उनके आधिपत्यक्षेत्र का विस्तार मध्यदेश के दक्खिन-पच्छिम मत्स्य से मगध तक के प्रदेशों तक था। ये प्रदेश इस समय से ही आर्यावर्त्त के अविच्छिन्न अंग बनने लगे। मगध में भी इस समय जो राज्य स्थापित हुआ, वह बहुत दिनों तक उस प्रदेश में स्थायी शान्ति प्रस्थापित किए रहने और उसे समृद्धि की ओर ले जानेवाला हुआ है।

वसु के बाद उनके साम्राज्य के पाँच टुकड़े हो गए—मगध, कौशाम्बी, करूष, चेदि और मत्स्य। पर इस समय तक इन विभिन्न

इलाके के निवासियों के जीवन का एक ऐसा ढर्रा अवश्य ही बँध गया था, जब वे एक-दूसरे से पूर्णतया अलग नहीं किए जा सकते थे। इस समय से उनमें से एक के विकास में दूसरे से पूरी मदद मिलने लगी थी।

इन राज्यों को एक सूत्र में बाँध रखनेवाली शक्ति इस समय भी राजदंड की अपेक्षा वैदिक विधान-प्रणाली में ही अधिक रहती दिखाई देती है। इसके प्रमाण भी हमें महाभारत में ही मिलते हैं। वैदिक नियम भंग करनेवाला चाहे राजा ही क्यों न हो, समाज से च्युत कर दिया जाता था, उसे उन नियमों की देखरेख रखनेवाले कड़ी फटकार सुनाया करते थे और उससे प्रायश्चित्त करवाया करते थे। भीष्म ने इस संबंध की एक पुरातन कथा युधिष्ठिर को सुनाई थी। चैद्योपरिचर वसु के ही समकालीन संभवतः उनके चचेरे भाई ही एक राजा जनमेजय (अभिमन्यु-पौत्र नहीं) थे। उन्होंने अज्ञानवश ब्रह्म-हत्या कर वैदिक नियम भंग किया था। उनके इस अपराध के कारण पुरोहितों के सहित ब्राह्मणों ने उनका परित्याग किया, फिर प्रजासमूह ने भी उनका परित्याग कर दिया। राजा के इस भाँति परित्याग किए जाने की कथा से ही प्रमाणित होता है कि उस काल में वैदिक नियम पालन करते जाने पर ही कोई राजा राजा बना रह सकता था। नियम-उल्लंघन करने पर राजा जनमेजय को भी शोकाग्नि से जलते हुए वन-गमन करना पड़ा था। इतना ही नहीं, वैदिक नियमों का बनाना तथा उनका पालन होता देखना जिन मुनियों का कर्तव्य था, उनसे राजा को फटकार भी सुननी पड़ी। जनमेजय को फटकारते समय इन्द्रोत मुनि ने उनका तिरस्कार करते हुए कहा था—

'अरे महापापी! तू यहाँ कैसे आ गया।...तेरे शरीर से रुधिर की तरह दुर्गंध निकल रही है। तेरा आकार मुर्दे की तरह देख पड़ता है।...तू निरंतर पाप का ही चिंतन करता है, इसलिए तेरा जीवन

व्यर्थ और अत्यंत क्लेशमय है। देख! तेरी ही करतूत से तेरे पितरों का वंश नरक में पड़ा है, उन्होंने तुझसे जो-जो आशाएँ बाँध रखी थीं, आज वे सब व्यर्थ हो गईं। जिनका पूजन करने से मनुष्य स्वर्ग, आयु, सुयश और संतान प्राप्त करते हैं; उन ब्राह्मणों से ही तू बिना कारण द्वेष करता है। अब अपने पाप के कारण तू अनेक वर्ष तक उलटा सिर किए नरक में पड़ा रहेगा। वहाँ लोहे के समान चोंचवाले गिद्ध और मोर तुझे नोच-नोचकर दुखी करेंगे और उसके बाद भी तुझे किसी पापयोनि में ही जन्म लेना पड़ेगा। यदि तू ऐसा समझता हो कि अब इस लोक में ही पाप का कोई फल नहीं मिलता, तो परलोक में ही क्या रखा है, तो इस बात का निश्चय तुझे यमदूत करा देंगे।'

इन्द्रोत मुनि के इन तिरस्कारपूर्ण वचनों से पता लगता है कि उस काल में भी जब एक राजप्रणाली पूर्णतया प्रस्थापित हो चुकी थी, राजा की अपेक्षा मुनियों का ही दर्जा कहीं ऊँचा था। आर्यविधान भंग करने पर राजा भी साधारण श्रेणी के मनुष्यों-जैसा दीन हीन बन जा सकता था। उसे प्रजा, मुनि जैसे लोगों द्वारा तिरस्कृत किए जाने के अलावा परलोक में नरकयातना पाने का भय तथा देवताओं द्वारा दंडित होने की भी आशंका रहती थी। जनमेजय को इन्द्र ने भी दंड दिया था। उसके पास उसके पूर्वज ययाति को रुद्र द्वारा मिला दिव्य रथ था। वह पौरवों की विशेष सम्पत्ति में परिगणित होता था। पर इन्द्र ने जनमेजय के अनार्य कर्म देखकर वह रथ जनमेजय से ले लिया और उसे अपने मित्र चैद्य-वसु को दे दिया।

राजा के अपने कर्मों पर खेद प्रकट करने और समुचित प्रायश्चित्त के लिए तैयार होने पर इन्द्रोत मुनि ने उस अवसर के उपयुक्त आर्यों के बीच प्रचलित बृहस्पति का मत कहा—'यदि मनुष्य पहले बिना जाने पाप करके फिर बुद्धिपूर्वक पुण्यकर्म करे, तो इससे उसके पूर्व पाप

का उसी प्रकार नाश हो जाता है जैसे खार लगने से वस्त्र का मैल छूट जाता है। सूर्य जिस प्रकार प्रातःकाल उदित होकर रात्रि का सारा अंधकार नष्ट कर देता है, उसी प्रकार शुभकर्म करके मनुष्य अपने सभी पापों का अंत कर देता है।' इन शुभकर्मों का अर्थ अवश्य ही सामाजिक कल्याणसंबंधी कार्य रहता था। ऐसे कार्यों का संपादन ही यज्ञों का भी मुख्य उद्देश रहता था। वास्तव में यज्ञ किसी व्यक्ति-विशेष के स्वार्थ के लिए नहीं, बल्कि समाज की उन्नति का ही उद्देश्य सामने रखकर किए जाते थे।

इन्द्रोत मुनि ने भी वैदिक विधान के अनुसार ही राजा जनमेजय से अश्वमेध यज्ञ कराया। अवभृथ स्नान के बाद राजा का लोहगंध दूर हुआ। 'तब वे पापरहित और कल्याणयुक्त होकर जैसे पूर्ण चंद्र आकाश में उदय होता है वैसे ही जलती अग्नि के समान तेज-पुञ्ज-युक्त शरीर से अपने नगर में प्रविष्ट हुए।'[1]

समाज के लिए कल्याणकारी कार्य करने पर ही मनुष्य अपने किए पापकर्म तथा दुखी जीवन से छुटकारा पा सकता है—यह विचार महाभारतपूर्व काल में ही आर्य-विचार-शास्त्र में अपना स्थायी स्थान प्राप्त कर चुका था। व्यक्तिगत स्वार्थ तथा संकीर्ण भावनाओं से खींचकर मानव-जीवन को सामाजिक उन्नति के कार्यों के लिए प्रेरणा देते रहना ही इस काल के वैदिक धर्म की विशेषता रही है। धर्म के इस स्वरूप की पहचान रखना, उसे ही अपना सबसे ऊँचा आदर्श बनाना तथा उसी के द्वारा अपना आचरण निर्धारित करते जाना भारतवंश के महान् नायकों ने अपने जीवन का मुख्य उद्देश बना लिया था। यही उनके इस काल के उत्कर्ष की मुख्य कुंजी दीखती है।

[1] शांति पर्व—१५२।३६

सात्वतों की उन्नति

हमारे देश का द्वापरयुग का इतिहास जिन लोगों से प्रभावित रहा है, उनमें भारतवंश के सिवा यादव ही सर्वप्रमुख थे। कई अंश में इस काल के यादवों की आर्यावर्त्त को दी गई देन अबतक चिरस्थायी रहती चली आ रही है। इनकी देन आर्यों का राजनैतिक तथा सांस्कृतिक दोनों ही जीवन परिपूर्ण बनानेवाला रहा है, पर, फिर भी वह सबसे अधिक भावजगत से संबंध रखनेवाला है। विभोर होकर विराट के साथ एकात्म्य अनुभव करने की प्रवृत्ति जागृत करना तथा सर्वसाधारण में भी सौन्दर्योपासना की प्रेरणा भर देना इनकी ही देन की विशेषताएँ रही हैं।

त्रेतायुग के अंतिम चरण में यादवों के बीच मधु की चौथी पीढ़ी में सत्वन्त नाम के एक प्रतापी राजा हुए थे। उनके वंशज सात्वत कहलाए। आगे चलकर सात्वत शब्द यादव क्षत्रियों के लिए प्रयोग होने लगा। उनके बीच एक धर्म-विशेष के विपुल प्रचार होने के कारण वह धर्म भी सात्वत कहलाया। उसी धर्म के दूसरे नाम पाञ्चरात्र, भागवत वा वैष्णवतंत्र हैं।

रामायणकाल के अंतिम दिनों में शत्रुघ्न ने सात्वत यादवों का देश जीत लिया था, पर राम तथा शत्रुघ्न के परलोक-गमन के बाद सत्वन्त के पुत्र भीम सात्वत ने अपना प्रदेश फिर से वापस ले लिया। इसी समय से सात्वतों की उन्नति का काल आरंभ हुआ। उनका साम्राज्य विशाल बनने लगा और आर्यावर्त्त को भी उनकी देन प्राप्त होने लगी।

द्वापरयुग के प्रथम-द्वितीय चरण में ही भीम सात्वत के पुत्रों के समय यादवों का विशाल साम्राज्य कई राज्यों में बँट गया। एक राज्य मथुरा में अंधक का था। दूसरा वृष्णि का था, जिसकी राजधानी द्वारका थी। उनके और एक भाई का राज्य शाल्वदेश (आबू के चारों तरफ का प्रदेश) के अंतर्गत था, जिसकी राजधानी पर्णास (बनास) नदी पर मार्तिकावत नगरी थी। विदर्भ, अवंति, दशार्ण (बेतवा-केन के बीच) तथा माहिष्मती में भी इस समय छोटे-छोटे यादव राज्य थे। इन सब राज्यों में अंधक और वृष्णि के ही राज्य बहुत अधिक प्रसिद्ध हुए। ये दोनों राज्य गणतंत्र थे। इनमें एक राजा का राज्य नहीं होता था। अंधक-वृष्णि-संघ स्थापित हुआ था और राज्यकार्य-संचालन के लिए उनके दो मुखिया चुने जाते थे, जो संघमुख्य की हैसियत रखते थे ; पर कहलाते प्रायः राजा ही थे। इन संघों के मुखिया या राजा वंशागत नहीं होते, बल्कि चुने जाते थे। प्राचीन भारत में प्रजातंत्र-संबंधी विचार-धारा की प्रस्थापना करने तथा उन्हें व्यावहारिक जीवन में कार्यकारी सिद्ध कर दिखलाने में इन यादवों का काफी हद तक श्रेय है। राजनैतिक क्षेत्र की उनकी प्रजातंत्रवादी ढंग की कीर्तियों का समावेश हमारे देश के इतिहास के अत्यंत उज्ज्वल अध्यायों में होता है।

सात्वत-कीर्त्ति

सात्वतों की उज्ज्वल कीर्त्ति राजनैतिक क्षेत्र तक ही सीमित नहीं रही है। द्वापरयुग के आर्यावर्त्त की मुख्य समस्या जितनी राजनैतिक नहीं, उतनी सामाजिक थी। इन सामाजिक समस्याओं के हल करने में सात्वतों ने बहुत बड़ा हिस्सा लिया है। आर्यावर्त्त की विचारधारा के सुन्दर रूप से गढ़े जाने के लिए उन्होंने द्वापरयुग में एक बहुत ही अच्छा साँचा तैयार किया था। उनके उस साँचे की छाप आज भी हमारे देश के न सिर्फ बाह्य इतिहास में, बल्कि हमारे विचार तथा भावजगत में अपना विशेष स्थान रखती है।

द्वापरयुग के आरंभ में आर्येतर जातियों के आर्यों के गहरे संपर्क में आने जाने का सिलसिला बढ़ता जा रहा था। इस घनिष्ठ संपर्क के कारण आर्यों के सामाजिक तथा विचारक्षेत्र में कई अद्भुत समस्याएँ आ खड़ी हुई थीं। आर्य अपनी जाति के स्वाभिमान तथा स्वार्थरक्षा के लिए आर्येतर जातियों से लड़कर फैसला कर ले सकते थे। पर विकसित जाति के तथा संस्कार के रहने के कारण उनके स्वभाव में स्वाभाविक रूप से ही सहानुभूति तथा दूसरों के

प्रति सहनशीलता की भावनाएँ थीं। पर इन भावनाओं को कार्यरूप में परिणत होने देने के लिए आर्यों को अपने सामाजिक विचार, नियम तथा उपासना-पद्धति में बहुत प्रकार के परिवर्तन लाने की आवश्यकता थी। उन्हें अपने मन तथा बाह्यजीवन को इस ढंग पर गढ़ लेने की जरूरत थी। जिसमें विभिन्न जातियों के साथ के संघर्ष में उन्हें अपनी बहुत अधिक शक्ति खर्च करने की आवश्यकता न पड़े। आर्यों के लिए अपने निजी तथा और जातियों के बीच के वास्तविक विभेद जो विभिन्न क्षेत्रों में वर्त्तमान थे, उन्हें स्वीकार करते चलने के सिवा दूसरा चारा नहीं था। पर फिर भी आर्य तथा आर्येतर जातियों के मेल का कोई न कोई आधार निकालना आवश्यक था। ऐसे आधारों के ही बल हमारे देश की भूमि पर निवास करनेवाले मनुष्यों के भीतर परस्पर तथा इन मनुष्यों और यहाँ की मिट्टी के बीच एकता का भाव आ सकता था और देश की सर्वांगीन उन्नति संभव बन सकती थी। हमारे देश का कल्याण करनेवाले विभिन्न जातियों के बीच मेल के वैसे आधार बहुत अंश में सात्वत धर्म अथवा भागवत धर्म द्वारा ही तैयार किए गए थे।

इस सात्वत-कीर्त्ति की महानता का ठीक-ठीक अंदाज लगा पाने के लिए सात्वत यादवों के तत्कालीन जीवन तथा विश्वास-पद्धति पर ध्यान देना आवश्यक है। द्वापरयुग के प्रारंभ के आर्यराज्यों के नक्शे पर दृष्टिपात करते ही स्पष्ट हो जाता है कि जिन हिस्सों में उन दिनों यादव राज्य थे, उनका सिन्धु अथवा गंगातटों के आर्यों की अपेक्षा जंगलों की ओर खिसककर निवास करनेवाली आर्येतर जातियों से अधिक गहरे संपर्क में आना स्वाभाविक था। उन जातियों के साथ के इस गहरे संपर्क के कारण आर्यों के बीच यादवों का ही आर्येतर जातियों की विश्वासपद्धति

से अधिक प्रभावित हो जाना लाज़िमी था। घने जंगली प्रदेश मनुष्यों के बीच स्वाभाविक ही विस्मय तथा एक विशेष ढंग का भय संचार करते हैं। विस्मय का भाव रहस्यों में विश्वास लाता है और सामूहिक भय एकता को प्रेरणाएँ भरता है। आर्येतर जातियों का जीवन इन्हीं विश्वास और प्रेरणाओं के आधार पर निर्धारित होता था। वैसी परिस्थिति में जब यादव उनके गहरे संपर्क में आए तब वे भी आर्येतर विचारधारा से प्रभावित हुए बिना नहीं रहे। पर अधिक विकसित विचारबुद्धि रहने के कारण यादवों ने आर्येतर विश्वास को उनके मूल स्वरूप में नहीं रहने दे उन्हें और एक रूप में परिवर्तित कर दिया। वह परिवर्तित रूप तत्कालीन सामाजिक जीवन में अनिवार्य रूप से अशांति दूर करने के लिए बहुत ही उपयोगी था। उस उपयोगिता के कारण ही उन विश्वासों को आर्य-विचार-पद्धति में स्थान मिला और वे आगे चलकर वैदिक विचारों से भी अधिक आर्य-मस्तिष्क को प्रभावित करते चलने में समर्थ हुए।

जीवन की विशेष परिस्थिति ने ही यादवों को वैष्णवतंत्र (पाञ्चरात्र, भागवत धर्म वा सात्वत धर्म उसीके दूसरे नाम हैं) संबंधी प्रेरणाएँ दी थीं। इस तंत्र के सिद्धान्तों का प्रतिपादन महाभारत के नारायणीयोपाख्यान में मिलता है। उसके अनुसार सात प्रसिद्ध चित्रशिखण्डी ऋषियों ने मेरुगिरि पर एकमत होकर उस उत्तम शास्त्र का निर्माण किया था। सात ऋषियों के मुख से निकले हुए उस शास्त्र में उत्तम लोकधर्म की व्याख्या की गई है। ''ऋषियों ने मन ही मन यह सोचकर कि अमुक साधन से संसार का कल्याण होगा, ऐसा करने से परमात्मा की प्राप्ति होगी तथा अमुक उपाय से जगत का अत्यंत हित होगा, उस शास्त्र की रचना की। उसमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का वर्णन है तथा

नाना प्रकार की मर्यादाओं और स्वर्ग एवं मर्त्यलोक की स्थिति का भी वर्णन किया गया है'···भगवान नारायण भी वह शास्त्र सुन प्रसन्न हो कहते हैं—'मुनिवरो, तुमलोगों ने एक लाख श्लोकों का यह उत्तम शास्त्र बनाया है, इससे संपूर्ण लोकधर्म का प्रचार होगा।' इस शास्त्र में अवश्य ही बहुत दूर तक आर्येतर विश्वासों को प्राश्रय दिया गया था। शंकराचार्य ने शारीरक भाष्य में इस शास्त्र द्वारा प्रतिपादित मत की कड़ी आलोचना की है और स्पष्ट शब्दों में इसे अवैदिक स्वीकार किया है। पर अवैदिक होने पर भी द्वापर के वैदिक आर्यों के जीवन में यह मत अधिकाधिक दखल जमाता गया था।

पाञ्चरात्र संहिताओं में 'क्रिया' और 'चर्या' पर ही अधिक जोर दिया गया है। क्रिया से उनका तात्पर्य देवालय का निर्माण, मूर्तिस्थापन तथा मूर्ति के विविध आकार-प्रकार का सांगोपाग वर्णन रहता है। चर्या में आह्निक क्रिया, मूर्तियों तथा यंत्रों के पूजन का विस्तृत विवरण, वर्णाश्रम-धर्म का परिपालन, पर्व तथा उत्सव के अवसर पर पूजा का विधान आदि रहता है। उनके साधनमार्ग में भगवान की प्राप्ति का एकमात्र उपाय 'भक्ति' ही बतलाया गया है।

महाभारत में भी हयग्रीव-अवतार की कहानी के सिलसिले में नारायण की महिमा तथा भक्ति-धर्म की परंपरा का वर्णन किया गया है। तमोगुण और रजोगुण से युक्त मधु और कैटभ दैत्य चारों वेदों को हर ले जाते हैं। इससे ब्रह्माजी पर भारी सकट आ जाता है। वेदों के बिना उन्हें सब ओर अंधकार दिखलाई देता है। उनके बिना वे संसार की सृष्टि करने में असमर्थ हो जाते हैं। तब वे भगवान नारायण की शरण में जा कहते हैं—'मैं आपका

प्रिय भक्त हूँ। आप कृपा कर वेदों को पुनः ला दीजिए।' नारायण हयग्रीव अवतार (घोड़े के मस्तकवाला) धारण करते हैं और मधु कैटभ को मार वेदों को वापस ला देते हैं। इसी सिलसिले में भक्ति की महिमा से प्रभावित हो जनमेजय कहते हैं—'जो ब्राह्मण, उपनिषदों-सहित संपूर्ण वेदों का विधिवत् स्वाध्याय करते हैं तथा जो संन्यासधर्म का पालन करते हैं, इन सबसे उत्तम गति उन्हीं को प्राप्त होती है जो भगवान के अनन्य भक्त हैं।' वैशम्पायन का भी कथन है—'यदि यह संसार भगवान के अनन्य भक्त, अहिंसक, आत्मज्ञानी और संपूर्ण प्राणियों के हितकारी मनुष्यों से ही भरा रहे तो सर्वत्र सत्ययुग ही छा जाए।'

महाभारत की इस कहानी से हमें अपने देश के उस काल का इतिहास ज्ञात होता है जब मधुकैटभ जैसे अनार्यों के संपर्क में आ जानेवाले आर्य वास्तव में ही वेदों का ज्ञान खोने लगे थे। जीवन के वैदिक तथा अवैदिक दृष्टिकोण के भयानक संमिश्रण के समय आर्यों को वास्तव में ही भय होने लगा था कि उनकी वैदिक विचारधारा दबती जा रही है। इसीलिए वे उसके पुनरुद्धार की चेष्टा में जी-जान से लगने लगे थे। आर्यों की इन नवीन चेष्टाओं का ही प्रमाण हमें हयग्रीव-अवतार-जैसी कहानियों में मिलता है। पर इन चेष्टाओं के बावजूद भी आर्य इस बार अवैदिक विचारधारा की बहुत-सी बातें अपना लेने से अपने को नहीं रोक सके। इस बार की वैदिक-अवैदिक विचारधारा के सम्मिश्रण से सामाजिक जीवन को सुचारु रूप से संचालित करने के लिए जो नया आधार निकला, वह पाञ्चरात्र या सात्वत धर्म ही था।

द्वापर के सामाजिक जीवन पर सात्वत धर्म द्वारा डाले गए असर का खयाल करने पर यह स्पष्ट दिखलाई देता है कि इस धर्म के तत्कालीन स्वरूप में दूसरों को अपनाते चलने की एक अद्भुत प्रेरणा

भरी थी। 'सब एक ही नारायण की संतान हैं'—इस विचार की दृढ़ता तत्कालीन आर्यों में आर्येतर जातियों के प्रति अद्भुत सहनशीलता का भाव संचार कर देने में समर्थ हुई थी। उस नारायण को वे स्थूल रूप में देख पाने की चेष्टा करते थे और इसी सिलसिले में उन्होंने अपनी कल्पना की सहायता से देवमंदिर और मूर्तियों के रूप में अद्भुत सौन्दर्यसृष्टि संभव बना दी।

सात्वत कल्पनाशक्ति का चमत्कार दिनोंदिन बढ़ता ही गया है। इसका कौशल आर्यावर्त्त के जीवन पर वैदिक विचार से भी गहरा रंग चढ़ाता गया है। इसी से एक नए मनुष्य, नए समाज—नए आर्यावर्त्त का आविर्भाव हुआ है। वह नया आर्यावर्त्त अद्भुत जादूभरे वीरत्व तथा प्राणशक्ति से ओतप्रोत बनता गया है। वहाँ के मनुष्य जीवन के तूफ़ान में ही आनन्द से विचरण करते हैं। वे भय नहीं जानते। हतोत्साह से अपरिचित हैं। विपत्तियों का सामना करते जाने में ही उन्हें आनन्द-बोध होता है। जब उनके सामने महासंग्राम आता है तो उसी मुहूर्त्त में हमें सुनाई देता है उनके अंतस्तल में हमेशा गूँजता रहनेवाला शुद्ध वीरत्व के झंकार से परिपूर्ण साक्षात् जीवन का ही सरल तेजोमय गान।

अपने देश की पटभूमि पर का वही उज्ज्वल चित्र हमें दिखाई देता है महाभारत में।

ग्रंथ-परिचय

'जो भारत में है, वही सब संसार में है ; जो भारत में नहीं है, वह कहीं भी नहीं है।'[1] स्वयं महाभारत अपने विषय में कहता है। शताब्दियों पर शताब्दियाँ व्यतीत हो जाने पर भी उसकी यह उक्ति आज भी यथार्थ ही रहती चली आ रही है।

विषय और कलेवर दोनों ही दृष्टियों से यह आर्य-साहित्य का सबसे महान् ग्रंथ है। पर इसे सिर्फ महान ग्रंथ वा महाकाव्य ही कह देने भर से हमें उसका परिचय नहीं मिलता। इसे हम आर्यजीवन की जीवित रूपवाणी भी कह सकते हैं, पर तब भी उसके स्वरूप की शायद ही पहचान होती है।

अपनी कल्पना में उसके स्वरूप का आभास ले आने के लिए थोड़ी देर के लिए हम हिमालय के ही उपयुक्त एक विराट् जलप्रपात का उदाहरण ले सकते हैं। पहले हम उस प्रपात का उद्भव देखें। पर्वत की चोटियों पर हमें 'बुदबुदी' सुनाई देती है। वैदिक जीवन के लिए वैसे ही वेदमंत्र हैं। उनकी ध्वनि में हम विराट ब्रह्मांड का 'सरगम' सुनते हैं। उस ध्वनि के साथ चोटी के और ऊपर हम नहीं

---

[1] यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्।' (आदिपर्व)

उठ पाते। जिधर वह मर्त्यलोक के पत्थरों से टकराती है उधर अवश्य ही आगे बढ़ सकते हैं। उस दिशा में पहले हम उन मंत्रों की ध्वनि जलतरंग के रूप में सुनते हैं। बलबुले की तरह के पत्थर हिलते है। ध्वनि तीव्र होती जाती है। अब बड़े-बड़े रोड़े, तब ढोके फिर चट्टानों के हृदय में धड़कन होने लगती है। साथ ही स्थान-स्थान पर धारा फूट पड़ती है—स्वच्छातिस्वच्छ। अब धारा का कलकल सुनाई देता है—वाल्मीकि के दिए लय और सुर में। वह धारा आगे बढ़ती है। उसके साथ अनगिनत सोते अपने-अपने निजी स्वर में धरती के कल्याण का सुर आलापते चलते हैं। वे एक दूसरे से मिलते हैं। उनके मेल में ही एक विशिष्ट स्थल पर वह महान् जलप्रपात तैयार होता है।

उसका स्वरूप विराट है। हुंकार जबरदस्त है। गति बिजली-संचार करती चलती है। पर्वत के हृदय को ही उसने डंका बना लिया है। उसी पर जादू-भरे पौरुष की चोट मारता वह अपना आगे का रास्ता बनाता आगे बढ़ता जाता है। यदि आर्यजीवन को ही किसी ऐसे जलप्रपात के रूप में देखा जा सके, तो उस प्रपात का ही दूसरा नाम दिया जा सकता है—महाभारत !

समतल आर्यावर्त्त की भूमि पर उतर आने पर वह 'उज्ज्वल चरित्रों के वन' को सींचता चलता है। उन चरित्रों को वह अपने आपकी *जीवनशक्ति से ही परिपूर्ण रहनेवाला बनाता चलता है।* इस वन का ताँता बहुत दूर तक लगा रहता है। उससे बाहर निकल आने पर वह अगाध महासागर का रूप ले लेता है। उस समय उसकी ओर देख हम अनुभव करते हैं कि वास्तव में वह अपनी उपमा आप ही है।

आर्यजीवन का कोई भी ऐसा अंग नहीं है जिसका चित्र हम महाभारत के प्रकाश में न देख पाते हों। आर्यभूमि और मस्तिष्क के

साथ-साथ उसके इतिहास और उसके द्वारा मानवसमाज को दिए गए महादान—संपूर्ण वेद, उपनिषद्, दर्शन, पुराण, धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र, युद्धविद्या, ज्योतिष, मोक्षशास्त्र आदि सबका अकेला प्रतिनिधित्व कर पानेवाला कोई 'जीवनग्रंथ' हो तो वह महाभारत ही हो सकता है। समूचे भारतवर्ष की युग-युग से चली आनेवाली आर्यसंस्कृति, सभ्यता तथा आदर्श का चित्र हमें इसी में उपलब्ध होता है। इसे हम समस्त वैदिक युग की ऐतिहासिक, नैतिक, उपदेशमूलक और तत्त्ववाद-संबंधी कथाओं का विशाल विश्वकोश भी कह दे सकते हैं।

स्वयं कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास इस कीर्ति के संबंध में ब्रह्माजी से कहते हैं—'भगवन्! मैं ने एक श्रेष्ठ काव्य की रचना की है। इसमें वैदिक और लौकिक सभी विषय हैं। मैंने इसमें वेदों का रहस्य बतलाया है। वेदांग, उपनिषद् और वेदों का विस्तार किया है। इतिहास और पुराणों का विस्तृत वर्णन किया है। इसमें भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालों का वर्णन हुआ है। जरा, मृत्यु, भय, व्याधि आदि भावों के अभाव का निश्चय किया गया है; इनके मिथ्यात्व का प्रतिपादन हुआ है। धर्म और आश्रमों का लक्षण बताया गया है। चारों वर्णों की उत्पत्ति तथा तप और ब्रह्मचर्य की विधि बताई गई है। ग्रह, नक्षत्र, तारों तथा युगों का प्रमाण, न्याय शिक्षा, चिकित्सा, दान, अंतर्यामी का स्वरूप तथा दिव्य और मानवजन्म के कारण आदि का प्रतिपादन किया गया है। तीर्थ, नदी, पर्वत, वन, समुद्र और दिव्य नगरों का वर्णन है। दुर्ग, सेना और व्यूहरचना की विधियाँ तथा युद्ध की चतुराई बतलाई गई है। नाना प्रकार की जातियाँ और उनके बोलने-चालने के ढंग बताए गए हैं। नीतिशास्त्र का वर्णन किया गया है तथा जो सर्वव्यापी पर ब्रह्मतत्त्व है, उसका भी प्रतिपादन किया गया है। × × × जो कुछ भी इस विश्व में जानने

योग्य है, वह सब मैंने इस भारत में संगृहीत किया है।'[1]

ब्रह्माजी भी भारत का काव्यत्व स्वीकार करते हुए कहते हैं—'व्यासजी! मैं जानता हूँ, जन्म से ही आपकी वाणी ब्रह्म का प्रतिपादन करती है। आपने कभी असत्यभाषण नहीं किया। जब आपने इसे 'काव्य' कह दिया तो अवश्य ही यह 'काव्य' होगा। बड़े-बड़े कवि भी इस काव्य की प्रशंसा में अपने को असमर्थ पायेंगे।'

स्वयं महाभारत भी अपने विषय में कहता है—'जैसे दही में मक्खन, मनुष्यों में ब्राह्मण, वेदों में आरण्यक, औषधों में अमृत, जलाशयों में समुद्र और चतुष्पदों में गौ श्रेष्ठ है, उसी प्रकार समस्त इतिहासों में यह 'भारत' श्रेष्ठ है। × × × भारत सुनने के बाद और कुछ सुनना अच्छा नहीं लगता। भला कोयल की काकली सुनकर कौओं की काँय-काँय कौन पसंद करेगा? × × × 'धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के विषय में जो कुछ भारत में कहा गया है, वही अन्यत्र है। जो इसमें नहीं है, वह कहीं नहीं है।'

वास्तव में यह ठीक ही कहा गया है कि इस पृथ्वी पर ऐसी सुन्दर कथा नहीं है, जो महाभारत के उपाख्यानों में न आ गई हो। इसी के आधार पर आदिपर्व में और एक स्थान पर कहा गया है—'सभी अच्छे कवि महाभारत की कथा का सहारा लेंगे, इसकी कथा के आधार पर काव्य लिखेंगे।'

यह भविष्योक्ति वास्तव में ही सच्ची प्रमाणित होती आई है। कई हजार वर्ष से महाभारत का पवित्र स्रोत न सिर्फ कवियों का ही, बल्कि भारतीय जनसमूह के मनोविनोद तथा ज्ञानार्जन, चरित्र-निर्माण और प्रेरणाशक्ति का प्रबल साधन रहता आ रहा है।

---

[1]. आदिपर्व, अध्याय १

जय-भारत-महाभारत

वर्तमान समय में जो महाभारत उपलब्ध है, उसके अध्ययन से ही पता चल जाता है कि शुरू से ही उसका यही स्वरूप नहीं रहा है। इसकी मूल रचना के बाद इसके अनेक रूपान्तर होते गये हैं। प्रथम रचना के बाद कई शताब्दियों तक आर्य-विचारधारा में अथवा यहाँ की राजनैतिक शृंखला में जो परिवर्त्तन होते गए हैं, उनका भी इस ग्रंथ में समावेश होता गया है। हम और कुछ नहीं, सिर्फ उन विचारधाराओं के क्रम का ही खयाल करें तो इस परिणाम पर अवश्य पहुँचेंगे कि उनके विकास करने अथवा एक रूप से दूसरे रूप में परिवर्तन होने में बहुत काल व्यतीत हुआ होगा—किसी-किसी के बीच तो कई शताब्दियों का अंतर आ गया होगा। ऐसी परिस्थिति में शताब्दियों के रूपान्तर के बाद इस ग्रंथ का जो अंतिम स्वरूप बना, वही हमारा वर्तमान महाभारत है।

वर्तमान महाभारत के आदिपर्व में ही श्री वेदव्यासजी की आज्ञा से कथा प्रारंभ करते समय वैशंपायनजी कहते हैं—'भगवान् व्यास के द्वारा निर्मित यह इतिहास बड़ा ही पवित्र और विस्तृत

है। × × इस इतिहास का नाम—'जय' है।' इससे पता चलता है कि महाभारत का जो सबसे पहला रूप था, उसमें उसका नाम 'जय' ही था। उसके सर्वप्रथम श्लोक में भी कहा गया है—'नारायण का, मनुष्यों में जो श्रेष्ठ नर हैं उनका, देवी सरस्वती तथा व्यासजी को नमस्कार कर लेने के बाद 'जय' का पाठ करना चाहिए।'

'जय' शब्द से भारतीय युद्ध में पांडवों की जय का तात्पर्य मालूम पड़ता है। कथा प्रारंभ करने की याचना करते समय जनमेजय व्यासजी से कहते हैं—'भगवन्! आपने कौरवों और पांडवों को अपनी आँखों देखा था। मैं चाहता हूँ कि आपके मुँह से उनका चरित्र सुनूँ। वे तो बड़े धर्मात्मा थे; फिर उन लोगों में अनबन का क्या कारण हुआ? उस घोर संग्राम के छिड़ जाने की नौबत कैसे आ गयी? × × आप कृपा कर मुझे उसका पूरा विवरण सुनाइए।' जनमेजय की यह बात सुन व्यासजी ने पास ही बैठे अपने शिष्य से कहा—'वैशंपायन! कौरव और पांडवों में जिस प्रकार फूट पड़ी थी, वह सब तुम मुझसे सुन चुके हो। अब वही बात तुम जनमेजय को सुना दो।' इस कथन से यही प्रतीत होता है कि पहले कौरव-पाडव-युद्ध का वर्णन तथा उसमें पाडवो की विजय का ही वर्णन 'जय' नामक ग्रंथ में किया गया था। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि यह 'जय' इतिहास आठ हजार श्लोकों का था।

आगे चलकर उस ऐतिहासिक ग्रंथ में अनेक उपाख्यान जोड़ दिए गए। बहुत संभव है, यह कार्य व्यासजी के जीवन-काल में ही उनकी सम्मति से ही उनके शिष्यों का सहयोग प्राप्त कर संपादित हुआ हो। वर्तमान महाभारत में ही यह वर्णन मिलता है कि व्यासजी

ने पहले अपने पुत्र—शुक को और तब अपने अन्य शिष्यों को जय (भारत) पढ़ाया था।[1] तब सुमंतु, जैमिनी, पैल, शुक और वैशंपायन—इन पाँच शिष्यों ने पाँच भिन्न-भिन्न भारत-संहिताओं की रचना की। इन पाँच में से वैशंपायन की रचना और जैमिनी की रचना में से केवल अश्वमेधपर्व ही व्यासजी ने रख लिया। उपाख्यान तथा शिष्यों की रचनाओं का संपादन अवश्य ही स्वयं व्यासजी के ही हाथों हुआ, पर मूल ग्रंथ में वृद्धि हो जाने के कारण 'जय' का नाम 'भारत' या 'भारत-संहिता' दिया जाने लगा। लोकमान्य तिलक का मत है कि—"··· भारत नाम उस ग्रंथ को प्राप्त हो सकता है, जिसमें भरतवंशी राजाओं के पराक्रम का वर्णन हो।"[2] संभव है इस 'पराक्रम' के इतिहास से संबंध रखते बहुत-से नए वृत्तांत तथा आख्यान 'जय' के 'भारत' का स्वरूप लेते समय जुड़ गए होंगे। आदिपर्व में कहा गया है कि उपाख्यानों को छोड़कर चौबीस हजार श्लोकों की संहिता व्यासजी ने लिखी है।

किन्तु और आगे चलकर 'भारत' में सिर्फ युद्ध का अथवा भरतवंशवालों के पराक्रम का ही इतिहास नहीं रह गया। इसमें बहुत-सा अंश इस ढंग का जुड़ गया जिसका 'भारत-युद्ध' की कहानी से किसी प्रकार का संबंध नहीं रहा। मूल कहानी की पुष्टि में उसके चारों तरफ अनेक प्राचीनतम आख्यान और तत्त्ववाद के

---

[1] आ० प० १-१०३। इस संबंध में लोकमान्य तिलक लिखित गीता-रहस्य का 'गीता और महाभारत' अध्याय भी देखना चाहिए।

[2] गीता-रहस्य : पृ० ५२३।

सिद्धांत जोड़े जाने लगे। ये नए आख्यान और सिद्धांत मूल कहानियों से इस रूप में मिल गए कि मूल कहानी और जोड़े गए अंशों का अलग करना असंभव-सा बन गया। तब 'भारत' का भी नाम बदलकर 'महाभारत' हो गया। इस ग्रंथ के अंत में बतलाया गया है कि महत्त्व और भारत्व इन दो गुणों के कारण इसका नाम 'महाभारत' दिया गया है। आदिपर्व में भी कहा गया है कि देवताओं ने चारों वेदों को तराजू के एक पलड़े पर और महाभारत को दूसरे पलड़े पर रखकर तौला; महाभारत भारी निकला। इसीलिए 'महान्' 'भारवान्'—भारी होने के कारण यह महाभारत कहा जाने लगा। उसी पर्व में और एक स्थान पर कहा गया है कि व्यासदेव ने साठ लाख श्लोक का 'काव्य' लिखा था। उसमें से तीस लाख देवों के लिए, पंद्रह लाख पितरों के लिए, चौदह लाख गंधर्वों के लिए और बाकी एक लाख मनुष्यों के लिए लिखे गए थे। प्रस्तुत महाभारत लक्षश्लोकात्मक ही कहा जाता है। विद्वानों की खोज के अनुसार इसके प्रमाण मिलते हैं कि कम से कम दो-ढाई हजार वर्ष पूर्व से ही महाभारत में एक लाख श्लोक के लगभग मौजूद चले आ रहे हैं। महाभारत के अनुक्रमणिकाध्याय से भी इसका समर्थन होता है।

'भारत इतिहास' का 'काव्यमय महाभारत' के रूप में परिवर्तित हो जाना स्वाभाविक था। आर्य-आर्येतर विचारधारा के गहरे संघर्ष तथा सम्मिश्रण के काल के आर्ष महाकाव्य में केवल नायक के पराक्रम का वर्णन कर देने से ही काम नहीं चल सकता था। उसमें नायक के कार्य उचित हुए या अनुचित, यह दिखलाते जाना भी नितांत आवश्यक था। अर्वाचीन दृष्टि से उचित-अनुचित, गुण-दोष की विवेचना करना नीतिशास्त्र का काम है; किन्तु प्राचीन समय में

नीति तथा धर्म में विभेद नहीं माना जाता था। इसीलिए भारत इतिहास के नायकों के कार्यों के समर्थन के लिए तत्कालीन धर्म-दृष्टि से विवेचना करने और इस कारण ग्रंथ के आकारवृद्धि करने के *सिवा दूसरा मार्ग नहीं था। स्वयं व्यासजी ने ही अपने* भारत, इतिहास का ऐसा ढाँचा बनाया था जिसमें इतिहास के साथ-साथ धर्म-अधर्म-विवेचन रखना भी अनिवार्य था। इस विस्तार के कारण ही उनके ग्रंथ में समय के अनुकूल बार-बार नए शास्त्रों का जोड़ा जाना भी स्वाभाविक बन गया।

ग्रंथ की इस वृद्धि का विचार करते समय यह खयाल रखना भी आवश्यक है कि सचमुच किसी ने बैठकर किसी खास उद्देश्य *को सामने रख यह वृद्धि नहीं की थी। संजय भी सूत थे और सौति-* उग्रश्रवा भी सूतपुत्र थे। उनका काम 'इतिहास-पुराण' का प्रचार करना था। उनके समय से ही भारत-इतिहास प्रचलित हुआ। उनके बाद भी यह इतिहास और भी बहुतेरे सूतों के मुख में फलता-फूलता रहा है और उसी सिलसिले में इसने काल और रुचिविभिन्नता के अनुसार कई शताब्दियों के भीतर काव्यमय ग्रंथ का रूप धारण कर लिया है।

आज महाभारत जिस रूप में है, उसमें भले और बुरे दोनों प्रकार के मानवों का चित्र भलाई और बुराई-संबंधी अनेक काल के अनेक उत्कृष्ट उदाहरणों एवं परिणामों के साथ अंकित है। इसी कारण यह महाभारत आर्यजीवन के ही साथ-साथ आर्यसंस्कृति का चलित इतिहास बन पाया है। और अपनी इसी विशेषता के कारण वह हमारे देश के *सिर्फ ऐतिहासिक ही नहीं,* बल्कि राष्ट्रीय महाकाव्य का स्थान रखता है।

रचनाकाल

महाभारत में ही उसके रचनाकाल के संबंध में कई प्रकार के संकेत मिलते हैं। कथा प्रारंभ करने के समय वैशंपायन कहते हैं—'भगवान श्रीकृष्ण द्वैपायन प्रतिदिन प्रातःकाल उठकर स्नान-सन्ध्या आदि से निवृत्त हो इसकी रचना करते थे, इस प्रकार तीन वर्ष में यह पूरा हुआ था।' यह रचना व्यासदेव ने सबसे पहले अपने शिष्यों को ही सुनाई। उन दिनों व्यासजी का जहाँ निवास था, उसका जिक्र करते हुए वैशंपायन ने कहा है—'पर्वतों में श्रेष्ठ, सिद्ध और चारणों से सेवित, हिमालय की उपत्यका में मेरु पर्वत पर व्यास का आश्रम था।'[1]

फिर जब श्रीकृष्ण द्वैपायन को यह बात मालूम हुई कि पांडवों के पौत्र जनमेजय सर्प-यज्ञ में दीक्षित हो गए हैं, तब वे वहाँ गए। वहीं उन्होंने जनमेजय को भारत सुनाने के लिए वैशंपायन को आज्ञा दी।

जनमेजय के यहाँ से कथा सुनने के पश्चात् सौति उग्रश्रवा ने

[1] शांतिपर्व अ० ३३५ और ३४८।

नैमिषारण्य में जाकर शौनकादि ऋषियों को यही कथा सुनाई थी।

अब जो महाभारत उपलब्ध है, वह सारा का सारा वैशंपायन और जनमेजय के संवाद-रूप में कहा गया है। इन्हीं संवादों के भीतर अन्यान्य चरित्रों के संवाद होते रहते हैं। ऐसे ही एक प्रधान अन्तःसंवाद में युद्ध की सारी कथा संजय ने धृतराष्ट्र को सुनाई है। महाभारत का यह अंश ही उसका केन्द्र कहा जा सकता है। इस प्रकार सारे ग्रन्थ का संवाद के रूप में लिखा जाना ही बहुतेरे विशेषज्ञ पंडितों की राय में महाभारत की प्राचीनता के प्रमाणों में से एक है।

उपर्युक्त कथा से इतना अवश्य जाना जाता है कि जनमेजय के सर्पयज्ञ में दीक्षित होने के पूर्व व्यासदेव अपने भारत इतिहास की रचना कर चुके थे। इससे हमें महाभारत के अपने सबसे प्रारंभिक रूप में रचे जाने के काल का संकेत मिल जाता है।

भागवत तथा विष्णु पुराण में कहा गया है कि 'परीक्षित राजा के जन्म से नन्द के अभिषेक तक १०१५ वर्ष होते हैं।'[१] इस नन्द (महानन्दी) का काल विद्वानों ने ४०६ ई० पू० निश्चित किया है। इससे परीक्षित का जन्म १४२४ ई० पू० निश्चित होता है। स्वाभाविक ही भारत-युद्ध का भी यही काल होगा। परीक्षित की मृत्यु साठ वर्ष की अवस्था में हुई थी और तब जनमेजय राजा हुए थे। उपर्युक्त आधार पर जनमेजय के राजा होने का-काल १३६४ ई० पू० होना चाहिए। राजा होने के कुछ दिन बाद ही उसने तक्षशिला पर चढ़ाई की और वहाँ से नागों की शक्ति जड़ से उखाड़ डाली। वहीं सर्पसत्र

---

१. भाग. १२. २. २६ और विष्णु ४. २४. ३२।

(नागों की शक्ति उखाड़े जाने) के अवसर पर वैशंपायन ने उसे कौरव-पांडव-युद्ध का वृत्तांत सुनाया था। यह काल अवश्य ही चौदहवीं शताब्दी ई० पू० का मध्यभाग रहा होगा। इस काल के पहले ही व्यासदेव भारत-इतिहास की रचना समाप्त कर अपने शिष्यों को सुना चुके थे। अवश्य ही इस समय का वह भारत अपने प्रारंभिक मूल ऐतिहासिक रूप में होगा।

थोड़ा विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि किसी भी धर्म के उदय होने पर उस धर्म के प्रत्येक अंग पर प्रकाश डाल पानेवाले ग्रंथों की रचना उसी समय नहीं हो जाती। इसमें समय लगता है। भगवान् बुद्ध के निर्वाण के बाद बौद्ध धर्म के ग्रंथों की रचना में कई शताब्दियाँ लग गई थीं। श्रीकृष्ण भी भागवत मत में परम दैवत के रूप में स्वीकार किये गये थे; इसलिये उनसे संबंध रखते संपूर्ण भागवत मत के प्रतिपादन किये जानेवाले साहित्य की रचना में कुछ शताब्दियों का लग जाना स्वाभाविक ही था। जहाँ तक महाभारत का संबंध है, उसके नायकों को जो भागवत धर्म प्राप्त हुआ था; अथवा जो उन्हीं के द्वारा प्रतिपादित किया गया था, उसी भागवत धर्म के आधार पर उन नायकों के कार्यों के समर्थन में समय लगना आवश्यक था। इसके सिवा और एक समस्या का हल किया जाना जरूरी था। पांडवों के काल में वैदिक धर्म की जो शाखाएँ प्रचलित थीं, वे कम या अधिक मात्रा में निवृत्ति-प्रधान ही थीं, उनके आधार पर 'भारत' के नायकों की वीरता का पूर्णतया समर्थन नहीं किया जा सकता था। इसके लिए भागवत धर्म को ही कर्मयोग-प्रधान रूप दे उसी के प्रकाश में भारत के नायकों का चरित्र अलंकृत किया जाना आवश्यक था। इन कामों के सिलसिले में ही भारत-इतिहास ने

महाभारत 'महाकाव्य' का रूप धारण किया है। उसके उस एक रूप से दूसरा रूप धारण करने में कई शताब्दियाँ लग गई होंगी। लोकमान्य तिलक के अनुसार इसमें पाँच सौ वर्ष के लगभग लग गए होंगे।[1] इस हिसाब से यदि 'भारत-इतिहास' का आविर्भाव चौदहवीं शताब्दी के मध्य में व्यासदेव द्वारा किया गया तो उसका आखिरी 'महाभारत महाकाव्य' का स्वरूप उसे नवीं शताब्दी ई० पू० में प्राप्त हुआ है। हमें आज महाभारत जिस रूप में प्राप्य है, वह उसी समय का है। उसके नवीं शताब्दी के विराट् स्वरूप में उसके पहले का 'जय' या 'भारत' का स्वरूप इस प्रकार घुल-मिल गया कि फिर उसका अलग किया जा सकना ही असंभव बन गया है, इसीलिए अब उसका पूर्व नाम भी प्रचलित नहीं रह गया है।

पर इसका अर्थ अवश्य ही यह नहीं है कि नवीं शताब्दी ई० पू० के बाद महाभारत में बिलकुल ही कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। संभव है, उसके बाद भी उसमें कुछ श्लोक जोड़े गए हों अथवा उसमें से कुछ निकाल डाले गए हों। यहाँ प्रश्न दो-चार श्लोकों का नहीं, बल्कि समूचे ग्रंथ का ही है। इतना अवश्य निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि महाभारत ने अपना जो विशिष्ट रूप नवीं शताब्दी ई० पू० में धारण किया था, उसकी उस समय की जितनी विशेषताएँ थीं, वे ही आज भी हमारे काल के महाभारत में मुख्य रूप से वर्तमान हैं।

---

[1] गीता-रहस्य—भागवत धर्म का उदय और गीता, पृ० ५५६.

चित्रों के काल

महाभारत के रचनाकाल से उसमें अंकित किए गए चित्रों का काल अवश्य ही भिन्न है। वे सब चित्र भी एक ही काल के नहीं हैं। इसलिए उन चित्रों का काल-निर्णय करते समय प्रत्येक का अलग-अलग विचार करना जरूरी है। पंडितों का विश्वास है कि महाभारत की कितनी ही पौराणिक कहानियाँ, काव्य और वर्णनात्मक कथाएँ उतनी ही पुरानी हैं जितने कि स्वयं वेद। दूसरी ओर बौद्ध 'स्तूपों' के वर्णन से संबंध रखते कुछ अंश भी इसी ग्रंथ में प्राप्य हैं।[1] इससे विद्वानों को प्रतीत होता है कि महाभारत के उन अंशों के चित्र बुद्ध के बाद के किन्तु उनके अवतारों में गणना होने के पहले के अर्थात् पाँचवीं शताब्दी ई० पू० के हैं। पर इतने बाद के अंश समूचे ग्रंथ में विरले पाए जाते हैं; इसलिए उनकी गिनती प्रक्षेप में की जा सकती है।

स्वयं महाभारत में ही एक श्लोक मिलता है जिससे महाभारत

---

[1] उदाहरणार्थ—'एडूकचिह्ना पृथिवी न देवगृहभूषिता।' पृथ्वी पर देवालयों के बदले स्तूप होंगे। वनपर्व १९०.६८

के मुख्य विषय का आरंभ किस अध्याय से हुआ है, इस विषय-संबंधी मतभेद का पता चलता है। सौति ने तीन मतभेद बतलाए हैं—'कुछ लोग मनु से 'भारत' का आरंभ मानते हैं, दूसरे आस्तीक से अन्य विद्वान् उपरिचर से इस ग्रंथ का सम्यक् अध्ययन करते हैं।'[1] इस श्लोक का तात्पर्य महाभारत के मुख्य चित्र के काल से संबंध रखता दीखता है। मनु का वर्णन पुरुवंश की वंशावली आरंभ करते समय किया गया है। पर उस काल के इतिहास का वर्णन पूर्वपरिचय के सिलसिले में सरसरी तौर से दिया गया है। दूसरी ओर आस्तीक ऋषि राजा जनमेजय के समकालीन थे। महाभारत का मुख्य उद्देश्य उनके काल का भी वर्णन करना नहीं है। वह उपसंहार के रूप में ही समझा जा सकता है। भारत-इतिहास का विषय मुख्य रूप से उपरिचर के काल से ही आरंभ किया जाता है।

महाभारत के मुख्य प्रतिपाद्य विषय पर ध्यान रखने पर उपर्युक्त कथन की सचाई प्रमाणित हो जाती है। अपने देश के इतिहास के उद्भव स्थान की एक रेखा देख हम आगे बढ़ते हैं। जब हम सत्रहवीं शताब्दी ई० पू० के काल के आसपास पहुँचते हैं तब हमें 'भारत' में अपने देश के इतिहास का 'रेखा-चित्र' दिखलाई देने लगता है। लगभग यही काल (१७२७ के आसपास) उपरिचर का है। इसके बाद सोलहवीं शताब्दी ई० पू० में शान्तनु के काल में वह चित्र और भी स्पष्ट रूप धारण करता है। अब उन चित्रों पर रंग भी चढ़ने लग जाता है। पाण्डवों और कृष्ण के काल में—पंद्रहवीं शताब्दी में वे चित्र अद्भुत दीप्ति धारण कर पूर्णता प्राप्त कर लेते हैं। जनमेजय और आस्तीक के काल—चौदहवीं शताब्दी में उस चित्र की सीमांत रेखाएँ तैयार हो जाती हैं।

[1] आदिपर्व १,६—१६

इस दृष्टि से देखने पर महाभारत का मुख्य उद्देश्य हमारे देश के इतिहास का १७वीं १६वीं शताब्दी ई० पू० से आरंभ कर चौदहवीं शताब्दी ई० पू० तक के इतिहास का ही वर्णन करना मुख्य विषय दीखता है। वास्तव में इसी काल के इतिहास का उसमें विशद रूप से वर्णन भी किया गया है। ये तीन सौ वर्ष आर्यावर्त्त के नाट्यमंच पर खेले गए अद्भुत वीरता तथा पराक्रमपूर्ण 'जीवन-नृत्य' के काल रहे हैं। उन नृत्यों का नेतृत्व कृष्ण ने किया था जिनकी गणना अवतारों में होती है। वास्तव में उनका ही जीवन आर्यावर्त्त की तत्कालीन महान् समस्याओं को हल करने में सबसे अधिक कार्यकारी हुआ था। बहुत संभव है, महाभारत में उनके चित्र के ही उतना प्रधान बनाने तथा उसमें सबसे अधिक चमक ले आने का यही कारण रहा हो।

श्रान्त हो रही थी कि शेष, कच्छप और दिग्गज भी उसे उठाने में असमर्थ हो गए थे। ...पृथ्वी दैत्य दानव और राक्षसों की उच्छृङ्खलता से पीड़ित और उद्विग्न होकर ब्रह्माजी की शरण में गई।... प्रजापति भगवान् ब्रह्मा ने शरणागत पृथ्वी से कहा—'देवि! तू जिस कार्य के लिए मेरे पास आई है, उसके लिए मैं सब देवताओं को नियुक्त करूँगा।' पृथ्वी लौट आई। ...देवताओं ने ब्रह्माजी की बात मान ली। तब इंद्र ने भगवान् नारायण के पास जाकर कहा—'आप पृथ्वी का भार उतारने के लिए अंशावतार ग्रहण कीजिए।' भगवान ने 'तथास्तु' कहकर स्वीकार किया।"

इधर पृथ्वी पर कुरुकुल-कलङ्क दुरात्मा दुर्योधन कलियुग के अंश से उत्पन्न हुआ था। उसने आपस में वैर की आग सुलगाकर पृथ्वी को भस्म किया। पुलस्त्यवंश के राक्षसों ने दुर्योधन के सौ भाइयों के रूप में जन्म लिया था। उनका नाश करने के लिए 'युधिष्ठिर धर्म के, भीमसेन वायु के, अर्जुन इंद्र के तथा नकुल-सहदेव अश्विनीकुमारों के अंश से उत्पन्न हुए थे।' इन पाण्डवों को रास्ता दिखानेवाले वासुदेव श्रीकृष्ण 'देवाधिदेव सनातन पुरुष नारायण भगवान के अंश से अवतीर्ण हुए थे।'

उन दो पक्षों का नाम हम राक्षस और देव, अधर्म और धर्म, पाप और पुण्य चाहे जो भी दें; उपर्युक्त वर्णन से इतना स्पष्ट हो जाता है कि जिस काल के वृत्तांत का महाभारत वर्णन कर रहा है, उस समय वैदिक और अवैदिक, आर्य तथा आर्येतर इन दो विचार-धाराओं का आर्यावर्त की भूमि पर घमासान संघर्ष अवश्य चल रहा था। इस संघर्ष को ही आधार मानकर महाभारत का बाह्य रूप तैयार किया गया है। उसी के पक्ष-विपक्ष में दृष्टांत-स्वरूप उस समय तक आर्यों को ज्ञात अनेक उपाख्यानों का वर्णन किया गया

है तथा और भी बहुतेरे उपाख्यान रचे गए हैं। इन सब संघर्षों के क्षेत्र में प्रायः सब उदाहरणों में व्यासदेव तत्कालीन वैदिक विचार-धारा की ही श्रेष्ठता तथा उपयोगिता प्रमाणित करते रहे हैं।

जब उपर्युक्त दोनों पक्षों का संघर्ष वास्तव में ही महायुद्ध का स्वरूप लेता है तो उसमें भी अंतिम विजय श्रीकृष्ण और पांडव-पक्ष की ही होती है। यह विजय अवैदिक दुष्ट कुटिलता पर वैदिक मानवीय, सद्बुद्धिपूर्ण प्रणाली की थी। धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र की इस विजय ने ही वैदिक विचारधारा की श्रेष्ठता सिद्ध कर दिखलाई। पर उस युद्ध तथा उस विजय के वास्तविक महत्त्व को स्थूल रूप में हृदयग्राही बना देने का कार्य तब भी बाकी रह गया था। यही कार्य व्यासदेव ने पूरा किया। उन्होंने कुरुक्षेत्र की विजय को अपने 'जय' द्वारा अमर रूप प्रदान कर दिया। इसके द्वारा उन्होंने सिर्फ तत्कालीन दो विचार-धाराओं के महान् संघर्ष का सिर्फ विश्लेषण ही नहीं किया बल्कि आर्यसंस्कृति की विजय आनेवाले युग में भी स्थायी बना दी। वैदिक संस्कृति रक्षा के इतने बड़े अवलंब बन जाने के ही कारण आर्य-जीवन के इतिहास में 'महाभारत' अद्वितीय बन गया है।

संस्कृति-रक्षा का प्रश्न

स्कंदादि पुराणों में 'भारत' को वेदों से भी श्रेष्ठ बतलाया गया है। इस सम्बन्ध में एक स्थान पर कहा गया है—'स्त्री, शूद्र तथा द्विजबंधु (ज्ञान के कारण नहीं, बल्कि सिर्फ उस जाति-विशेष में उत्पन्न होने के कारण द्विज कहलानेवाले)—ये तीनों वेद के अधिकारी नहीं हैं, इसीलिए मुनि ने कृपा कर इस भारत-कथा की रचना की। वेद से भी परे चक्र में जो पाँचवाँ उत्तम वेद है, भारत को मुनि ने वही पाँचवाँ वेद बनाया।

'यही एकमात्र विष्णु का ज्ञान कराने और परोक्ष में लाभ करनेवाला, वेद से भी उत्तम तथा सबके लिए है।'

श्रीमद्भागवत का भी मत है—'भारत कथा के बहाने निश्चयपूर्वक वेदार्थ ही दर्शाया गया है; इससे महाभारत के 'इतिहास' और 'महाकाव्य' होने के सिवा उसके वैदिक धर्म के महान् ग्रन्थ होने का पता चलता है। भारत के धार्मिक ग्रन्थों के क्षेत्र में इस महत्त्व के रखने के कुछ विशेष कारण भी हैं। वेदों का आशय गहन रहने के कारण सर्वसाधारण के लिए उनका समझ पाना अत्यन्त

दुष्कर था। इसीलिए व्यासदेव ने वही आशय जनता को समझाने के लिए उन्हें ऐतिहासिक कथाओं के रूप में रखा था। इससे वैदिक विचारधारा का प्रसार वास्तव में ही सुगम बन गया।

ठीक किसी व्यक्ति की ही भाँति एक जाति के जीवन में भी वैसे मौके आते हैं, जब अपना कर्तव्याकर्तव्य निश्चय कर पाना उसके लिए बहुत कठिन हो जाता है। उन कठिन मौकों पर भूल कर जाने से उस जाति-विशेष का विशेषत्व ही नष्ट हो जाता है। ठीक वैसी ही परीक्षा के मौके पर आर्य-जीवन की विशेषत्व-रक्षा के मामले में महाभारत ने बहुत बड़ा कार्य किया है। इसने सिर्फ उसी समय भर के लिए नहीं, बल्कि आगे आनेवाले अनेक युग के लिए मनुष्यों को अपना कर्त्तव्याकर्तव्य सही रूप से निश्चय कर पाने का यथासंभव सीधा मार्ग दिखा दिया है। यह मार्ग अवश्य ही, वैदिक विचारधारा के पूर्णतया अनुकूल था। इसीलिए महाभारत को 'पंचम वेद' कहे जाने का गौरवपूर्ण पद प्राप्त हो सका था। स्वयं महाभारत के अध्ययन से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि उसका प्रधान उद्देश्य, वैदिक संस्कृति-रक्षा के प्रश्न पर विचार करना तथा उस प्रश्न के हल करने की सुनिश्चित दिशा दिखला देना रहा है।

महाभारत के आरम्भ में भूभार-हरण के लिए देवताओं के अवतार ग्रहण करने की कथा दी गई है। उसकी भूमिका में कहा गया है—"····क्षत्रियों में राक्षस उत्पन्न होने लगे। ···दैत्य न केवल मनुष्यों में बल्कि बैलों, घोड़ों, गदहों, ऊँटों, भैंसों और मृगों में भी पैदा हुए। ···दैत्य और दानव मदोन्मत्त तथा उच्छृङ्खल राजाओं के रूप में भी उत्पन्न हुए। उन्होंने तरह-तरह के रूप धारण कर पृथ्वी को भर दिया और सारी प्रजा को सताने लगे। पृथ्वी उनके भार से त्रस्त हो गई। वह इतनी भारा-

आत्म-ज्ञान

आर्य-जातीय विचारों के विकास की दृष्टि से महाभारत-युग के पूर्व की शताब्दियाँ भी बड़ी विलक्षण थीं। उन शताब्दियों में ही महान आर्य विचारकों ने उच्च मानवीय प्रेरणाओं की वह बुनियाद डाल दी थी जिस पर महाभारत-काल के नायक अपनी अद्भुत सृष्टि खड़ी कर सकते थे। वह बुनियाद वास्तव में ही बड़ी ठोस थी। उसी की मजबूती के कारण उस पर खड़ी की गई भारतीय जीवन की सृष्टि प्रचंड से प्रचंड तूफानों और महान से महान विपत्तियों का सामना हमेशा ही सफलतापूर्वक करती आई है।

उस काल के वैदिक विचारशास्त्र पर दृष्टि डालते ही यह स्पष्ट हो जाता है कि उसके प्रधान उद्देश्य व्यावहारिक जीवन से संबंध रखते थे। नाना जातियों के इतिहास में यह अक्सर देखा गया है कि उन्होंने अपनी जाति के व्यावहारिक जीवन को सुचारु रूप से संचालित कर ले चलने के लिए अधिकतर एक विशेष प्रकार के 'धर्म' की शरण ली है जिसका संबंध बहुत दूर तक अंधविश्वास से ही रहा है। उनके साथ तुलना करने पर हमें

आर्यजाति के व्यावहारिक जीवन को संचालित करनेवाले विचार तथा नियमों में स्पष्ट रूप से झलक जानेवाला विचार-स्वातंत्र्य आश्चर्य में डाल देता है। जीवन के इस क्षेत्र की परख कर पाने की आर्यों की विस्तृत दृष्टि आधुनिक से आधुनिक विचारक को चकित कर देती है।

अपनी विचारधारा के आर्येतर विचारों से गहरी टक्कर लेने तथा उसके कारण अपने वास्तविक जीवन में छिड़े भयानक संग्राम के मौके पर अपने को उन्नत कोटि से नीचे की ओर फिसल जाने से बचा रखने के लिए आर्यों में एकमात्र वेदों का ही आश्रय ग्रहण करने—उन पर ही भरोसा रखने की प्रवृत्ति आना स्वाभाविक था। उसीके परिणाम-स्वरूप वेद संहिता तथा ब्राह्मण-ग्रंथों में हम यज्ञ-याग आदि धर्म को ही महत्त्व रखता देखते हैं। आगे चलकर इसी धर्म का व्यवस्थित विवेचन जैमिनी ने मीमांसा-सूत्रों में किया।

पर साथ ही इसी संघर्ष के मौके पर हम दूसरे आर्य विचारकों को प्रश्न करते देखते हैं—'केवल यज्ञयाग के बाह्य प्रयत्न से ही क्या हमारा जीवन परिपूर्ण बन सकता है ?' वे जीवन को परिपूर्ण बना सकनेवाले 'सत्य' की खोज में निकलते हैं। यह खोज की प्रवृत्ति ही उन्हें 'ज्ञान-मार्ग' की ओर खींच लाती है। वैदिक ऋषियों को 'वास्तविक तत्त्व' की जिज्ञासा की जिस प्रवृत्ति ने मुग्ध किया था उसी प्रवृत्ति को हम और भी उत्कट रूप से जाग्रत होता देखते हैं—उपनिषदों में।

उनके वचन बड़े ही सरल हैं। 'परम तत्त्व' का वे वर्णन नहीं करते ; बल्कि उसका साक्षात्कार इस अद्भुत ढंग से करा देते हैं कि वह हमारे अंतस्तल से स्पर्श कर जाता है।

बृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्य आध्यात्मिक उपदेश देते समय मैत्रेयी से कहते हैं—'पति के लिये पति प्यारा नहीं है; बल्कि आत्मा के लिये। पत्नी के लिये पत्नी प्यारी नहीं है बल्कि आत्मा के लिये। पुत्र के लिये पुत्र प्यारा नहीं है; बल्कि आत्मा के लिये। संसार की समस्त वस्तु अपने लिये प्यारी नहीं होतीं; बल्कि आत्मा के लिये। अतः सबसे प्रिय वस्तु है—आत्मा। इसलिये, हे मैत्रेयी! इस आत्मा का प्रयत्न करना चाहिए, श्रवण करना चाहिए, मनन करना चाहिए तथा निदिध्यासन (सतत ध्यान) करना चाहिये। क्योंकि आत्मा के दर्शन से, श्रवण से, मनन से तथा विज्ञान से सब कुछ जाना जा सकता है।'

इस आत्मा की साक्षात् उपलब्धि होने पर क्या होता है, इसका आभास देते समय बृहदारण्यक में ही कहा गया है—'जिस प्रकार *प्रिया से आलिंगन किए जाने पर पुरुष न तो किसी बाहरी चीज को* जानता है न भीतरी चीज को, उसी प्रकार प्राज्ञ आत्मा से आलिंगन किए जाने पर यह जीव न तो बाह्य को जानता है न अंतर को। उस समय उसकी समस्त कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं क्योंकि आत्मा की उपलब्धि से किसी भी इच्छा की पूर्ति अवशिष्ट नहीं रह जाती।'

और उपनिषदों में भी ब्रह्म का साक्षात्कार तथा पहचानने का सबसे बड़ा उपाय आत्मा का पहचानना तथा साक्षात्कार करना ही बतलाया गया है। ब्रह्म से उनका तात्पर्य ब्रह्मांड की नियामक सत्ता तथा आत्मा से पिंडांड की नियामक सत्ता रहा है। इस परिवर्तनशील ब्रह्मांड के भीतर हम जिस प्रकार एक अपरिवर्तनशील तत्त्व विद्यमान रहता देखते हैं उसी प्रकार इस पिंड के भीतर भी एक अपरिवर्तनशील तत्त्व की सत्ता विद्यमान है। उपनिषद् के ज्ञानियों ने इस

ब्रह्मांड और पिंडांड—ब्रह्म तथा आत्मा की एकता का सिद्धांत ही प्रतिपादित किया है।

यह ज्ञान न सिर्फ भारतीय, बल्कि सारे विश्व के विचारशास्त्र के इतिहास में गौरव की वस्तु है। सारे विश्व की पहेली—पदार्थों के अंतस्थल की एकरूपता, अनेकता के भीतर एकता का उपनिषदों जैसा सीधा सरल वर्णन और नहीं मिलता। सत्य तत्त्व के साक्षात्कार करने, उसी के आधार पर जीवन को परिपूर्ण बनाने तथा वास्तविक अर्थ में 'मानव' बनने का पथ जिस सीधे-सादे पर चमत्कारपूर्ण हृदयग्राही रूप में उपनिषद् के ज्ञानियों ने दिखलाया है वह और किसी भी दूसरे के द्वारा संभव नहीं हो पाया है।

उपनिषदों के अपने अनुभव व्यक्त कर देने पर प्रश्न उठने लगा कि आखिर उनकी व्याख्यानुसार उस 'तत्त्व' का ही साक्षात्कार किस प्रकार किया जाय? उनका 'तत्वमसि' मंत्र कहता था कि जीव तथा ब्रह्म में नितांत एकता है। इसकी अनुभूति ही किस प्रकार हो? इसी प्रश्न के सुलझाए जाने के सिलसिले में हमारे देश के षड्दर्शनों—सांख्य, योग, वैशेषिक, न्याय, मीमांसा तथा वेदांत की उत्पत्ति हुई है। कुछ दार्शनिक लोग कहने लगे कि विभिन्न गुणवाले पुरुष तथा प्रकृति—जीव तथा भौतिक जगत्—के परस्पर गुणों के ठीक-ठीक न जानने से ही (अनात्मख्याति) यह संसार है और प्रकृति तथा पुरुष के यथार्थ रूप को जान लेने पर तत्-त्वं की एकता सिद्ध होती है। इस ज्ञान का नाम हुआ सम्यक् ख्याति='सांख्य'। परन्तु केवल बौद्धिक साक्षात्कार से काम नहीं चलता देख उसे व्यावहारिक रूप से प्रत्यक्ष करने की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। इस आवश्यकता की पूर्ति ध्यान-धारणा की व्यवस्था करनेवाले 'योग' से हुई। × × × अनंतर जीव-जगत्

के यथार्थ निर्धारण के लिए इनके गुणों (विशेषों) की छानबीन करना नितान्त आवश्यक हुआ। इस आत्मा तथा अनात्मा के गुणविवेचन के लिए 'वैशेषिक' की उत्पत्ति हुई; परन्तु वस्तुरूप का विवेचन ज्ञानप्राप्ति की परिष्कृत पद्धति के अभाव में सुसम्पन्न नहीं हो सकता। अतः इस ज्ञान की शास्त्रीय पद्धति के निरूपण के लिए 'न्याय' का जन्म हुआ। परन्तु न्याय के शुद्ध तर्क पर अवलम्बित होने से यह भावना बद्धमूल हो गई कि केवल शुष्क तर्क की सहायता से आत्मतत्त्व का यथार्थ साक्षात्कार नहीं हो सकता। अतः विचारकों ने श्रुति की ओर अपनी दृष्टि फेरी। "वेद को लौट जाओ"—इस सिद्धान्त का प्रचार होने लगा। दार्शनिकों ने वेद के कर्मकाण्ड की विवेचना करना आरम्भ कर दिया और इस विवेचन का फल हुआ 'मीमांसा' का उद्गम। परन्तु मानवों की आध्यात्मिक प्रवृत्तियाँ केवल कर्म की उपासना से तृप्त नहीं हो सकीं। अतः अगत्या ज्ञानकाण्ड की मीमांसा होने लगी जिसका पर्यवसान 'वेदान्त' में हुआ।'[1] उपनिषदों का 'ब्रह्मज्ञान' ही वेदान्त कहलाया।

जहाँ तक मूल उपनिषदों के काल का संबंध है, लोकमान्य तिलक ने इस पर काफी प्रकाश डाला है। मैत्र्युपनिषद् में काल-रूपी अथवा संवत्सर रूपी ब्रह्म के विवेचन का जो वर्णन है उसके आधार पर गणित से हिसाब लगा वे इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि मैत्र्युपनिषद् ईसा से पहले १८८०—१६८० वर्ष के बीच बना होगा।[2] पर मैत्र्युपनिषद् ही सबसे प्राचीन उपनिषद् नहीं है।

---

[1] बलदेव उपाध्याय; भारतीय-दर्शन। पृ० ३६-३७।

[2] बा० गं० तिलक—गीता-रहस्य, पृ० ५५२.

उसमें न केवल ब्रह्मज्ञान और सांख्य का मेल कर दिया गया है बल्कि स्थान-स्थान पर छांदोग्य, बृहदारण्यक, तैत्तिरीय, कठ और ईशावास्य उपनिषदों के वाक्य तथा श्लोक भी उसमें प्रमाणार्थ उद्धृत किए गए हैं। इससे अनुमान किया जा सकता है कि छांदोग्य आदि ज्ञानप्रधान उपनिषद् कम-से-कम सन् ईस्वी के लगभग सोलह सौ वर्ष पुराने अवश्य हैं।

महाभारत के आधार पर हिसाब लगाने पर पता चलता है कि वह काल शांतनु का रहा होगा। उसी के काल से महाभारत ने हमारे देश के इतिहास का विस्तृत रूप से वर्णन भी आरंभ किया है। उस काल के संबंध में हमें उपनिषदों के अध्ययन से इतना अवश्य ज्ञात हो जाता है कि उनके 'आत्म-ज्ञान' का सिद्धांत आर्यावर्त के तत्कालीन सामाजिक तथा राजनैतिक जीवन में, उस समय के आर्य-आर्येतर संघर्ष के मौके पर एकता प्रस्थापित करने में अवश्य ही बहुत दूर तक सहायक प्रमाणित हुआ है। उनके सिद्धांत सिर्फ व्यक्ति को ही नहीं बल्कि सारे समाज को ही मनुष्यता के उन्नत स्तर पर खींच ले चलने की चेष्टा करते रहे हैं। 'बृहदारण्यक उपनिषद् ने एक बड़ी रोचक आख्यायिका के द्वारा दम (आत्मसंयम), दान तथा दया की सुशिक्षा दी है। छान्दोग्य ने तपस्या, दान, आर्जव, अहिंसा, सत्यवचन को आध्यात्मिक उन्नति में साधन बतलाया है। तैत्तिरीय ने गुरुगृह से प्रत्यावर्तन के समय स्नातक को बड़ी सुन्दर शिक्षाएँ दी हैं। इन सुशिक्षाओं में, माता, पिता तथा गुरु की सेवा, स्वाध्याय-चिन्तन तथा धर्माचरण का महत्त्वपूर्ण स्थान है परन्तु 'सत्यंवद' को समस्त उपदेशों में विशिष्ट गौरव प्राप्त है। छान्दोग्य ने सत्यकाम जाबाल की कथा में सत्य की शिक्षा पर खूब जोर दिया

है। प्रश्नोपनिषद् में अनृत भाषण की निन्दा तथा मुण्डक में सत्य की प्रशस्त प्रशंसा है। सत्य के अनन्तर शम, दम, उपरति, तितिक्षा तथा समाधान की प्राप्ति भी उतनी ही आवश्यक है।'[1]

तत्कालीन आर्य विचारधारा का दृष्टिकोण कितना प्रशस्त था वह भी छांदोग्य के कथन से ही व्यक्त होता है—'सुख दो प्रकार के होते हैं—छोटा सुख तथा बड़ा सुख। विषय-प्रपंच में सुखोपलब्धि अल्पकोटि की है। परन्तु वास्तव सुख तो उस 'भूमा'—आत्मा की उपलब्धि में है जो सर्वत्र विद्यमान है, ऊपर है तथा नीचे है; आगे है तथा पीछे है, दक्षिण की ओर है तथा उत्तर की ओर है। परम तत्त्व की ही संज्ञा भूमा है। "जहाँ पर न तो दूसरे को देखता है, न दूसरे को सुनता है, न दूसरे को जानता है वह है भूमा। भूमा ही अमृत है; जो अल्प है वह मर्त्य है—अनित्य है।"'[2]

मुक्तिकोपनिषद् ने भी पुरुषार्थ पर जोर देते हुए कहा है—'वासना रूपी नदी दो मार्गों से प्रवाहित होती है—शुभ मार्ग से तथा अशुभ मार्ग से। मनुष्य को चाहिए कि प्रयत्न द्वारा अशुभ में लगी वासना को शुभ ही में ले जाए।'

इन उदाहरणों से पता चलता है कि हमारे देश का जीवन सुसंचालित करने में उपनिषदों का कितना प्रभाव रहा होगा। उपनिषद् सिर्फ विचार ही नहीं; बल्कि वास्तविक जीवन में भी महान् परिवर्तन ले आनेवाली विचारधारा के उद्गमस्थान हैं। इनके ही 'आत्म ज्ञान' ने आर्यावर्त्त को आत्मानुभव कराया है। उसी अनुभव के बदौलत हमारे देश में निजी शक्ति तथा क्षमता के

---

[1] भारतीय दर्शन : पृ० ८४-८५

[2] भारतीय दर्शन : पृ० ८६ तथा छान्दोग्य—८।२२

मामलों में वैसा दृढ़ विश्वास आया जिसने वैदिक संस्कृति को वास्तव में ही अमरता प्रदान कर दी है।

उपनिषदों का तत्वज्ञान 'तत्त्वमसि' मंत्र में परिपूर्ण हुआ था। इस ज्ञान द्वारा न सिर्फ साथी मनुष्यों के बीच की ही एकता का बल्कि जीव तथा ब्रह्म की नितांत एकता का साक्षात्कार किया गया है। इस ज्ञान के ही बल मनुष्य मानव-समाज के उस सबसे ऊँचे वैदिक आदर्श पर पहुँच सकता था जिसकी ओर बार-बार दिखलाते हुए महामानवों ने कहा है—'विराट् के साथ एकात्म्य।'

ज्ञान और कर्म

महाभारत-पूर्व की विचारधारा में मुख्यतया चार पृथक् मार्ग प्रचलित दिखलाई देते हैं। वे हैं—ज्ञान, ध्यान, कर्म और भक्ति। इस समय तक उपनिषत्कारों का ज्ञान तथा उसके ताँते में आने वाला सांख्य और योग परिपक्वता प्राप्त करने लगा था; मीमांसकों का यज्ञ-मार्ग प्रधानता प्राप्त कर चुका था और पांचरात्र धर्म का भी आविर्भाव हो गया था। जहाँ तक व्यावहारिक जीवन का सम्बन्ध था, इसमें विवाद के विषय थे—कर्म और ज्ञान। 'उपनिषत्काल में ही इस विषय पर दो दल हो गए थे। उनमें बृहदारण्यकादिक उपनिषद् तथा सांख्य यह कहने लगे कि कर्म और ज्ञान में नित्य विरोध है इसलिए ज्ञान हो जाने पर कर्म का त्याग करना प्रशस्त ही नहीं किन्तु आवश्यक भी है। इसके विरुद्ध ईशावास्यादि अन्य उपनिषद् यह प्रतिपादन करने लगे कि ज्ञान हो जाने पर भी कर्म छोड़ा नहीं जा सकता, वैराग्य से बुद्धि को निष्काम करके जगत में व्यवहार की सिद्धि के लिए ज्ञानी पुरुष को कर्म करना ही चाहिए।'[1] ईशावास्योपनिषद्

[1] लोकमान्य तिलक : गीता-रहस्य, पृ० ५४१

के श्लोक ही कहते है—'जो अविद्या (कर्म) की उपासना करते हैं वे घोर अंधकार में प्रवेश करते है और जो विद्या (ज्ञान) में ही रत हैं, वे मानो उससे भी अधिक अंधकार में प्रवेश करते हैं। × × जो विद्या और अविद्या—इन दोनों को ही एक साथ जानता है वह अविद्या से मृत्यु को पार करके विद्या से अमरत्व प्राप्त कर लेता है।'

इस काल में कर्म के ज्ञान से मेल किये जाने की समस्या ज्यों-ज्यों जटिल बनती गई, उसके सुलझाव का भी रास्ता एक और दिशा से निकलता आने लगा। छान्दोग्यादि उपनिषदों में ब्रह्म-चिन्तन के समय चित्त स्थिर करने के लिये पहले ब्रह्म के किसी सगुण प्रतीक के नेत्रों के सामने रखने की विधि बतलाई गई थी। आगे चलकर उस सगुण प्रतीक को ही विशेष महत्व दिया जाने लगा और साथ ही साथ उस सगुण प्रतीक के बदले परमेश्वर के मानव-रूपधारी व्यक्त प्रतीक की उपासना धीरे-धीरे आरंभ हो गई। यहीं से 'भक्तिमार्ग' का आविर्भाव हुआ। पर यह मार्ग अपने पहले से प्रचलित वैदिक कर्मकांड और औपनिषदिक ज्ञानमार्ग की अवहेला नहीं कर सकता था। इसने वास्तव में ही वैसा न कर उनके और अपने बीच समन्वय के लिए ही भूमि तैयार करना आरंभ किया। महाभारत के नारायणीयोपाख्यान में ही हमें यह कथन मिलता है—'चार वेद और सांख्य या योग इन पाँचों का उसमें (भागवत धर्म में) समावेश होता है इसलिए उसे पाञ्चरात्र धर्म नाम प्राप्त हुआ है। × × उपनिषदों को भी लेकर ये सब शास्त्र परस्पर एक दूसरे के अङ्ग हैं।' इससे स्पष्ट हो जाता है कि भागवत धर्म में सब प्रकार के ज्ञान की एकवाक्यता आरंभ से ही प्रतिपादित की गई है। आगे चलकर इसी नारायणीयोपाख्यान में भागवत धर्म के लक्षण स्पष्ट

करते हुए कहा गया है—'यह नारायणीय (भागवत) धर्म प्रवृत्ति-प्रधान (कर्म-प्रधान) है।'

लोकमान्य तिलक ने भी भागवत-धर्माभिमत प्रवृत्तिमार्ग पर जोर देते हुए कहा है—'वैदिक धर्म के इतिहास में भागवत धर्म ने जो अत्यंत महत्वपूर्ण और स्मार्त धर्म से विभिन्न कार्य किया वह यह है कि उस (भागवत धर्म) ने कुछ कदम आगे बढ़कर केवल निवृत्ति की अपेक्षा निष्काम-कर्म-प्रधान प्रवृत्ति-मार्ग (नैष्कर्म्य) को अधिक श्रेयस्कर ठहराया, और केवल ज्ञान ही से नहीं किन्तु भक्ति से भी कर्म का उचित मेल कर दिया। इस धर्म के मूल प्रवर्तक नर और नारायण ऋषि भी इसी प्रकार सब काम निष्काम बुद्धि से किया करते थे, और महाभारत में कहा है कि सब लोगों को उनके समान कर्म करना ही उचित है।'[१]

प्राचीन भारत के अन्त करण की आरंभिक विभिन्न धाराएँ, उनकी यात्रा और फिर उनके संगम का सबसे सुन्दर चित्र हमें महाभारत में ही मिलता है। उसी में एक स्थल पर कर्म, ज्ञान, ध्यान तथा भक्ति संबंधी विचारधाराओं का संगम होता है। यह संगम ही तत्कालीन आर्यजीवन के आंतरिक शक्तियों के विकास का साधन जुटाता रहा है। उसी संगम में स्नान किये रहने के कारण महाभारत के चरित्र अपने आप में पूर्ण और अद्भुत प्रतिभासंपन्न बनते हैं। और असल में वह संगम ही महाभारत के बाह्यरूप के समान उसके अन्तररूप को भी उतना ही भव्य, मनोहर, अभिराम, आभामय बना देता है।

[१] गीता-रहस्य, पृ० ५५४

प्रदेश-वृत्तांत

महाभारतकार के इतिहास-वर्णन करने की अपनी निजी निराली प्रणाली है। व्यक्तियों के वृत्तांत और घटनाओं के वर्णन कर देने से ही उसे सन्तोष नहीं होता। उन व्यक्तियों के कार्य अमुक ढंग के ही क्यों हुए अन्य ढंग के क्यों नहीं हुए, घटनाएँ उस तरह की ही क्यों घटीं अन्य तरह की नहीं—आदि बातों का विश्लेषण करना और उनके पीछे छिपे कारण ढूँढ़ निकालना, ग्रंथकार अपने निजी उत्तरदायित्वों में गिनती करता है। विशेष कर ऐसे मौकों पर वह मनुष्य के कार्य निर्धारित करने वाले नियमों की खोज करता है। जब वे नियम उसे मिल जाते हैं तब वह उनकी समुचित ढंग से जाँच करता है। उसकी विवेचना में जब वे नियम ठीक उतरते हैं तब वह उन्हें इस कौशल से सामने रखता है जिसमें अपनी उन्नति चाहने वाला मनुष्य भी उन्हें पहचान सके, उनसे समुचित शिक्षा ग्रहण कर सके और उनके आधार पर अपने जीवन में आने वाले विकट मौकों पर समुचित ढंग से अपना कर्तव्याकर्तव्य निश्चय कर पाने में समर्थ हो सके।

दूसरी ओर, महाभारतकार अपने नायकों अथवा ऐतिहासिक वृत्तांतों के लिए जो पट-भूमि चुनता है वह भी बड़ा विशाल रहता है। महायुद्ध की कहानी अथवा तीर्थयात्रा के छल से वह हमें तत्कालीन आर्य जगत् को ज्ञात सारे विश्व ब्रह्मांड की यात्रा करा देता है। इस यात्रा में जंगली पहाड़ी इलाकों से लेकर समुद्रतट और समतल भूमि पर का हमारे देश का शायद ही कोई अंचल बाकी रहता हो जिसका हमें 'साक्षात' दर्शन न हो जाता हो। हिमालय के कैलाश से लेकर समुद्रतट पर की कन्याकुमारी तक और प्राग्ज्योतिष (आसाम) से प्रभास (काठियावाड़ में) तक के प्रदेशों की सिर्फ भूमि और नदियों से ही नहीं बल्कि उनकी सब विशेषताओं से भी हमारा परिचय हो जाता है।

इन सब प्रदेशों में बसनेवाले मनुष्यों के रंग-रूप, आचार-व्यवहार, संस्कार-विचार आदि से भी महाभारतकार हमारी अभिज्ञता करा देते हैं। वह भी इस कौशल से कि उस अभिज्ञता के साथ-ही-साथ हम अपने दृष्टिकोण को विस्तृत होते जाने से छुँटका रखने में चेष्टा करने पर भी शायद ही सफल हो सकते हैं।

हमें अनेकानेक प्रदेशों में घुमाते, वहाँ के विभिन्न निवासियों से परिचय प्राप्त कराते अथवा उनका इतिहास बतलाते समय महाभारतकार स्वयं बिल्कुल ही निष्पक्ष बने रहते हैं। ऐसी अद्भुत निष्पक्षता हमें आधुनिक से आधुनिक इतिहासकारों में भी विरले ही दिखाई देती है। आज भी एक देशवालों के दूसरे देश के प्रति के खयाल तो दूर रहे, एक प्रान्त के लोग अपने पड़ोसी प्रांतवालों के दोष-गुण निष्पक्ष भाव से समझ पाने में असमर्थ रहते हैं। महाभारत-काल में भी बहुत-से लोग अवश्य ही अपने प्रदेश से दूर के निवासियों के विषय में गलत धारणाएँ रखते थे। व्यासदेव ने महाभारत की कहानी के

महाराज धृतराष्ट्र के पास सुनी थी। एक बार उनके महल में कई ब्राह्मण अनेकों अद्भुत देशों और प्राचीन वृत्तांतों का वर्णन कर रहे थे। वहाँ एक बूढ़े ब्राह्मण ने वाहीक और मद्र देश की निन्दा करते हुए कहा था—'जो हिमालय, गंगा, सरस्वती, यमुना और कुरुक्षेत्र से बाहर तथा सिन्धु और उसकी पाँच सहायक नदियों के बीच में स्थित है वह वाहीक देश धर्मबाह्य और अपवित्र है। उससे सर्वदा दूर रहना चाहिए। मैं एक गुप्त-कार्यवश कुछ दिन वाहीक देश में रहा था। उस समय मैंने उनके आचार-विचार के विषय में बहुत-सी बातें जान ली थीं। जहाँ शाकल नाम का नगर और अपगा नाम की नदी है वहाँ जर्तिका नाम के वाहीक रहते हैं। उनका चरित्र बड़ा निन्दनीय होता है। ऐसा कौन बुद्धिमान होगा जो उन दुश्चरित्र, संस्कारहीन और दुरात्मा वाहीकों के साथ मुहूर्त भर भी रहना पसन्द करेगा।' उस ब्राह्मण ने वाहीकों को ऐसा दुराचारी बताया था। उन में धर्म कैसे रह सकता है? वाहीक देश के लोग उपनयन आदि संस्कारों से रहित रहने के कारण पतित समझे जाते हैं। × × × × × वे धर्मभ्रष्ट तथा यज्ञ के अधिकार से वंचित होते हैं। इन्हीं सब कारणों से उनके दिए हुए हव्य, कव्य और दान को देवता, पितर तथा ब्राह्मण लोग नहीं स्वीकार करते। एक विद्वान ब्राह्मण ने तो यहाँ तक कहा था कि 'वाहीक लोग काठ और मिट्टी की बनी हुई कुण्डियों में भोजन करते हैं। उनमें शराब लिपटी रहती है, कुत्ते उन बर्तनों को चाटते रहते हैं तो भी उनमें खाते समय उन्हें तनिक भी घृणा नहीं होती। वे भेड़, ऊँटनी और गदही के दूध पीते हैं तथा उस दूध के दही, मक्खन और छाछ आदि भी खाते-पीते हैं। इतना ही नहीं, वे वर्णसंकर संतान उत्पन्न करने वाले और दुराचारी होते हैं। शुद्ध-अशुद्ध का विचार छोड़कर सब तरह का अन्न खा लेते हैं।

ये विद्वानों को चाहिए कि 'आरट्ट' नाम से प्रसिद्ध उन वाहीकों का त्याग दें। × × × × × इसी प्रकार कारस्कर, माहिषक, ।, केरल, कर्कोटक, वीरक और दुर्धर्म नामक देशों का भी त्याग उचित है। प्रस्थल, मद्र, गान्धार, आरट्ट, खश, वसाति, सिन्धु, सौवीर देश प्रायः निन्दित और अपवित्र माने गए हैं। पांचाल के लोग वेदों का स्वाध्याय करते हैं, कुरु देश के निवासी धर्म का प्र लेते हैं। मत्स्य देश के लोग सत्यवादी और शूरसेन-निवासी करनेवाले होते हैं। पूरब के लोग दास-वृत्ति करते हैं, दक्षिणी का बर्ताव शूद्रों के समान होता है। वाहीक लोग चोर तथा ष्ट्र-निवासी वर्णसंकर होते हैं। मगध देश के मनुष्य इशारे से बात समझ लेते हैं, कोसल की प्रजा दृष्टि के संकेत को समझती रु और पांचाल के लोग आधी बात कह देने पर पूरी बात समझ हैं तथा शल्व देश के निवासी पूरी बात कहने से ही उसे हृदयंगम हैं। शिवि देश की प्रजा पहाड़ी लोगों की तरह मूर्ख होती है। । लोग सब बातों को अनायास ही समझ लेते और विशेषतः ीर होते हैं। म्लेच्छ जाति के लोग अपने संकेत के अनुसार बर्ताव करते हैं। दूसरे सभी लोग पूरी बात कहे बिना उसे समझ पाते। वाहीक और मद्र देश के मनुष्य तो पूरे गँवार हैं, वे किसी रथी का मुकाबला नहीं कर सकते। शल्य! तुम भी ही हो! तुममें उत्तर देने की योग्यता नहीं है। मैं तो डंके की कहता हूँ—मद्र देश पृथ्वी के समस्त देशों का मल है।'

कर्ण ने अवश्य ही ये वाक्य क्रोध के आवेश में कहे थे, पर भी अपने मे विभिन्न प्रदेशवालों की जाँच करते समय की चित दृष्टि का उससे पता चल जाता है। इस दृष्टि के ऊपर वाले विचार भी उस समय प्रचलित थे, इसका प्रमाण शल्य के

उत्तर से मिल जाता है—'कर्ण! तुम जिस देश के राजा बने बैठे हो, उस अंग देश में क्या होता है? अपने ही सगे संबंधी जब रोग से पीड़ित हो जाते हैं तो उनका त्याग कर दिया जाता है। अपनी ही स्त्री और बच्चों को वहाँ के लोग सरे बाजार बेचते हैं। उस दिन रथी और अतिरथियों की गणना करते समय भीष्मजी ने तुम से जो कुछ कहा था, अपने उन दोषों पर ध्यान दो और क्रोध छोड़कर शांत हो जाओ। सभी देशों में ब्राह्मण हैं, सर्वत्र क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र हैं तथा सब जगह सुन्दर व्रत का पालन करनेवाली सती साध्वी स्त्रियाँ भी हैं। सब देशों में अपने-अपने धर्म का पालन करनेवाले राजा लोग हैं, जो दुष्टों को दण्ड देते हैं। इसी प्रकार धार्मिक मनुष्य भी सर्वत्र होते हैं। किसी देश के सभी निवासी पाप ही करते हों—यह बात ठीक नहीं है; उसी देश में ऐसे-ऐसे सच्चरित्र और सदाचारी मनुष्य भी होते हैं, जिनकी बराबरी देवता भी नहीं कर सकते। कर्ण! दूसरों के दोष बताने में सभी लोग बड़े प्रवीण होते हैं, किन्तु उन्हें अपने दोषों का पता नहीं रहता। अथवा अपने दोष जानते हुए भी वे ऐसे भोले बने रहते हैं मानो उन्हें कुछ पता ही न हो।'

शल्य के आखिरी वाक्य, किसी प्रदेश विशेष की जाँच करने के समय महाभारतकार की अपनी निजी दृष्टि यथासंभव पक्षपातरहित रखने की चेष्टाओं का परिचय देते हैं। उनकी इसी निष्पक्षता के कारण तत्कालीन भारत का, उसके समस्त दोष-गुणों के साथ, महाभारत के वर्णन-जैसा सुन्दर और सच्चा चित्र दूसरा नहीं मिलता।

मध्यदेश की प्रधानता

भारत-युद्ध के समय अथवा उससे बहुत पहले से ही हमारा देश राजनैतिक दृष्टि से बहुत-से छोटे-छोटे टुकड़ों में बँटा था। सभापर्व के अनुसार उस समय के भारतवर्ष में एक सौ एक प्रसिद्ध क्षत्रिय राजवंश थे।[1] मत्स्य और विष्णुपुराण में केवल यादवों के ही एक सौ एक वंश कहे गए हैं। महाभारत के अनुसार मागध जरासंध ने ही अपने काल के छियासी राजकुलों को परास्त कर दिया था। उस समय बाकी चौदह ही स्वतंत्र रह गए थे।[2] राजकुलों की गिनती के बराबर ही जनपद थे। अवश्य ही वे बड़े-छोटे सभी प्रकार के थे। बड़ों का नाम महाजनपद भी दिया जाने लगा था।

तत्कालीन महाजनपद, जनपद या सब राजकुलों का इतिहास वर्णन करना महाभारत ने अपना उद्देश्य नहीं बनाया था। उसमें प्रधानतः कुरुवंशियों के युद्ध की ही कहानी है। पर उस कहानी से

---

[1] अध्याय १४

[2] सभापर्व १५।२६

संबद्ध रहने के कारण और वंशों और जनपदों का इतिहास-वृत्तांत देना आवश्यक हो गया था। इस इतिहास में मुख्यतया यादव और मगध का साम्राज्य विशेष स्थान रखते हैं।

महाभारत की मुख्य घटनाएँ जहाँ पर घटती हैं, वह स्थान भी विस्तृत अर्थ में मध्य देश ही है। इस काल में हम स्पष्टतया इस प्रदेश का ही सब से अधिक माहात्म्य-वर्णन पाते हैं। आर्यों के लिए अब 'सप्तसिंधव' की अपेक्षा गंगाकाँठा ही कहीं अधिक प्रिय बन गया है। उनके विचार से अब वहीं ब्रह्मा आदि देवता, दिशाएँ दिक्पाल, लोकपाल, साध्य, पितर, सनत्कुमार आदि परमर्षि, अङ्गिरा आदि निर्मल ब्रह्मर्षि, नाग, सुपर्ण, सिद्ध, नदी, समुद, गंधर्व और अप्सरा आदि सभी रहते हैं। ब्रह्मा के साथ स्वयं विष्णु भगवान् भी वहीं निवास करते हैं। प्रयागक्षेत्र में अग्नि के तीन कुण्ड हैं। उनके बीचोबीच से ही गंगाजी प्रवाहित होती हैं। तीर्थ-शिरोमणि पूर्वपुत्री यमुना जी भी आती हैं। वहीं लोकपावनी यमुनाजी का गंगाजी के साथ संगम हुआ है। वहीं बड़े-बड़े तपस्वी ऋषि प्रजापति की उपासना एवं चक्रवर्ती राजा यज्ञों के द्वारा देवताओं का यजन करते हैं। इसी से यह स्थान परम पवित्र है। ऋषि लोग कहते हैं कि प्रयाग समस्त तीर्थों में श्रेष्ठ है। प्रयाग की यात्रा से, प्रयाग के नाम-संकीर्तन से और प्रयाग की मिट्टी के स्पर्श से मनुष्य के सारे पाप छूट जाते हैं। जो विश्व-विख्यात गंगा-यमुना के संगम में स्नान करता है, उसे राजसूय एवं अश्वमेध यज्ञ का फल प्राप्त होता है। यह देवताओं की यज्ञ-भूमि है, यहाँ थोड़ा भी दान करने से बहुत बड़े दान का फल मिलता है। × × × प्रयाग में सदा-सर्वदा साठ करोड़ दस हजार तीर्थों का सान्निध्य रहता है। × × देव-नदी गंगाजी जहाँ भी हों, वहीं स्नान करने से कुरुक्षेत्र-यात्रा का

फल मिलता है। × × गंगाजी नामोच्चारणमात्र से पापों को धो बहाती हैं, दर्शनमात्र से कल्याणदान करती हैं, स्नान और पान से सात पीढ़ियों तक पवित्र कर देती हैं, जब तक मनुष्य की हड्डी गंगाजल में रहती है, तब तक उसे स्वर्ग में सम्मान प्राप्त होता है। × × जहाँ गंगाजी हैं, वही पवित्र देश है, वही पवित्र तपोवन है। गंगातट का स्थान ही सिद्धिक्षेत्र है।[१]

गंगा तथा उनके पड़ोस के प्रदेशों के इतनी प्रधानता प्राप्त कर लेने के अवश्य ही विशेष कारण रहे हैं। भौगोलिक और राजनैतिक कारणों के सिवा भी यह हमारी संस्कृति तथा विचारधारा से गहरा संपर्क रखता है। सारे आर्य-जगत् की कार्य-प्रणाली निर्धारित करनेवाले 'कर्म-सिद्धान्त' की उत्पत्ति तथा विकास का क्षेत्र यही रहा है। इसकी छाप हमें महाभारत की प्रत्येक कहानी, प्रत्येक वर्णन में दिखाई दे जाती है। इस सिद्धान्त के अनुसार—जगत् की नैतिक सुव्यवस्था का मूल कारण है कर्म-सिद्धान्त।...जो कुछ कार्य हम अपने प्रयत्न से करते हैं, उसका फल अवश्य उत्पन्न होता है, उसका नाश कथमपि नहीं होता (कृत प्रणाश) और जिस फल को हम इस समय भोग रहे हैं वह पूर्व जन्म में किये गये कर्मों का ही परिणाम है—बिना कारण उद्भूत होनेवाला नहीं है (कृताभ्युपगम)। कर्म-सिद्धान्त का यही तात्पर्य है कि इस विश्व में यदृच्छा के लिये कोई भी स्थान नहीं, सर्वत्र नैतिक सुव्यवस्था का साम्राज्य विराजमान है। कर्म-सिद्धान्त के अंगीकार करने से मनुष्य की आंतरिक शक्तियों के विकास के लिये उसे पर्याप्त अवसर मिलता है।[२]

---

[१] वन-पर्व।

[२] बलदेव उपाध्याय : भारतीय दर्शन, पृ० ४४

इस कर्म-सिद्धान्त की रोशनी में ही महाभारत में मध्यदेश तथा उसके साथ ही साथ तत्कालीन भारतवर्ष का इतिहास वर्णन किया गया है। उसके आख्यानों की यही आत्मा है। इसलिये इस सिद्धान्त का ज्ञान रहने पर ही हमें महाभारत में वर्णन किए गए मध्यदेश की प्रधानता के रहस्यों का पता चलता है और साथ ही उस महान् ऐतिहासिक महाकाव्य में वर्णन किए गए वास्तविक इतिहास की जानकारी प्राप्त होती है।

कुरु और पांचाल

महाभारत-काल में कुरु और पांचाल जनपद बहुत उन्नति पर थे। कुरु जनपद मध्यदेश से निकल कर उदीच्य और पश्चिम देशों तक फैलता था। वर्तमान अंबाला नगर के पास तक उसका फैलाव था। इस जनपद की राजधानी गंगातट पर बसी हस्तिनापुर नगरी थी। पांचाल जनपद कुरु के दक्षिण में था। इसमें गंगा-जमुना दुआबे के प्रदेश आते थे। गंगा की ओर के उत्तरी प्रदेश को उत्तर-पांचाल कहते थे। उसकी राजधानी अहिच्छत्र थी। दक्षिण की ओर जमुना से सटा दक्षिण पांचाल था, जिसकी राजधानी अहिच्छत्र से पैंतीस मील दक्षिण कांपिल्य नगर थी। उसका नाम अब कंपिल है। इन दिनों वहाँ सिर्फ पुरानी नगरी के खँडहर ही रह गए हैं।

महाभारत-पूर्व के ब्राह्मण-ग्रन्थों के कुरु और पांचाल जनपदों में बसनेवाली और झगड़ती रहनेवाली क्षत्रिय जातियों का बहुत बार उल्लेख किया गया है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में लिखा है कि 'शिशिर ऋतु में कुरु पांचाल पूर्व दिशा की ओर युद्ध के लिए

निकलते हैं।' इसी ब्राह्मण में फिर जिक्र किया गया है—'वर्षा के आरंभ में कुरुपांचाल पश्चिम की ओर युद्ध के लिए जाते हैं।' इन जातियों की वीरता का जिक्र करते हुए जैमिनीय ब्राह्मण में कहा गया है—'कुरु-पांचालों में वीरों के साथ वीर उत्पन्न होते हैं।' महाभारत काल के वीर प्रधान युग में इन जातियों का आगे आना स्वाभाविक ही था। इसी आधार पर कुछ पंडित यहाँ तक अनुमान करते हैं कि असली महाभारत की लड़ाई कुरुओं और पांचालों की थी, पांडवों का इसमें गौण स्थान था।

आदिपर्व में एक स्थान पर कहा गया है कि शांतनु का युतिमान इतिहास महाभारत कहा जाता है। वास्तव में उन्हीं के काल से *महाभारत की वास्तविक कथा आरंभ भी होती है।* उनके गुणों का विस्तृत वर्णन करते हुए कहा गया है—'राजा शांतनु बड़े मेधावी, धर्मात्मा और सत्यनिष्ठ थे। बड़े-बड़े देवर्षि और राजर्षि उनका सत्कार करते थे। इन्द्रियनिग्रह, दान, क्षमा, ज्ञान, संकोच, धैर्य और तेज इनमें स्वाभाविक रूप से विद्यमान थे। वे धर्मनीति तथा अर्थनीति में निपुण थे। वे केवल भारतवंश के ही नहीं, सारी प्रजा के एकमात्र रक्षक थे। उनका चरित्र देखकर सब लोगों ने यही निश्चय किया कि *काम और अर्थ से बढ़कर धर्म ही है।* × × *प्रजा का शोक, भय* और बाधा मिट गई थी, सब सुख की नींद सोते और जागते थे। × × उनकी राजधानी थी हस्तिनापुर। वहीं से वे सारी पृथ्वी का शासन करते थे। × × राजा शांतनु दुखी, अनाथ और पशु-पक्षी—सभी प्राणियों की रक्षा करते थे।' इतना स्पष्ट है कि शांतनु के समय से हस्तिनापुर का राज्य फिर से चमक उठा।

शांतनु मृगयाशील राजा थे। गंगा-तट पर विचरण करते समय उन्होंने गंगा नाम की परम सुन्दरी स्त्री से विवाह किया। यह स्त्री

लगभग दस वर्ष तक उनके पास रही। तब राजा के यहाँ से जाते समय वह अपने नवजात पुत्र देवव्रत को साथ ले गई। लगभग अठारह वर्ष बाद एक दिन गंगा-तट पर विचरते समय राजा को फिर देवव्रत मिला। अपनी माता के कथनानुसार वह उस समय तक वेद, अथर्ववेद और धनुर्वेद का पंडित हो चुका था। दैत्यगुरु शुक्राचार्य और देवगुरु बृहस्पति जो कुछ भी जानते थे, वह देवव्रत जानता था। स्वयं भगवान् परशुराम को जिन शास्त्रों का ज्ञान था, उन सब से वह अवगत था। इसका तात्पर्य यह था कि तत्कालीन आर्यजगत् को ज्ञात सब विद्याओं में देवव्रत निपुण था। राजा उसे हस्तिनापुर लेते आए और उसे युवराज-पद पर अभिषिक्त कर दिया।

चार वर्ष बाद फिर एक दिन राजा शांतनु यमुना-तट पर विचरण कर रहे थे। वहाँ उन्हें निषाद-कन्या सत्यवती दिखाई पड़ी। राजा ने उसे अपनी पत्नी बनाना चाहा, पर निषादराज की शर्तें बड़ी जबरदस्त थीं। वह चाहता था कि सत्यवती से जो पुत्र हो, वही राज्य का अधिकारी हो। जब देवव्रत को ये बातें मालूम हुईं तब उसने निषादराज के सामने जा प्रतिज्ञा की—'मैं शपथपूर्वक सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ कि इसका जो पुत्र होगा, वही हमारा राजा होगा। × × आज से मेरा ब्रह्मचर्य अखंड होगा।' देवव्रत की इस भीषण प्रतिज्ञा के ही कारण उनका नाम भीष्म पड़ गया। जिस सचाई और दृढ़ता से उन्होंने अपनी यह प्रतिज्ञा आजन्म निबाही, वह सिर्फ आर्य ही नहीं, मनुष्य-जाति के इतिहास में अपना बहुत ऊँचा स्थान रखता है। इनके जैसा तेजस्वी, ज्ञानी तथा चरित्रवान् महापुरुष संसार के इतिहास में दुर्लभ है; इनका आदर्श व्यक्तित्व महाभारत-युग को प्रभावित करनेवाला रहा है और साथ ही उसके बाद से आज तक आर्य-जाति के, विशेषकर युवकों के अभिमान और गौरव

का पात्र बना रहता आया है। महाभारत के पात्रों में अकेले इन्हें ही वरदान मिला था—'जब तक तुम जीना चाहोगे, तब तक मृत्यु तुम्हारा बाल भी बाँका नहीं कर सकेगी। तुमसे अनुमति प्राप्त कर के ही वह तुम पर अपना प्रभाव डाल सकेगी।' ब्रह्मचर्य की इस महिमा से परिचित होने का दावा आर्य-जाति के भीष्म-जैसे संतान ही अकेले कर सकते हैं।

भीष्म नाम पड़ जाने के बाद से ही हम उन्हें कौरव-वंश के उन्नति की ओर ले जानेवाले कार्मों का नेतृत्व ग्रहण करते देखते हैं। सत्यवती से दो संतान हुए—चित्रांगद और विचित्रवीर्य। इन दोनों ने युवावस्था में प्रवेश भी नहीं किया था, उसी समय शांतनु का देहांत हो गया। कौरवों की शक्ति इस समय दुर्बल पड़ गई समझ पांचाल-राज ने उसपर हमला करने का इसे सुअवसर आया समझा।

पुराण तथा हरिवंश के अनुसार इस समय पांचालों का राजा चक्रवर्ती उग्रायुध था। उग्रायुध ने अपने इलाके के अपने सब प्रतिद्वंद्वियों का नाश कर दिया था। अब वह कुरु जनपद पर भी अधिकार करना चाहता था। शांतनु के स्वर्गवासी होने पर मौका आया देख उसने भीष्म के पास दूत भेजा।[1] दूत ने आकर कहा कि हे भीष्म! अपनी माता सत्यवती का विवाह उग्रायुध से कर दो, अन्यथा तुम्हारे देश पर आक्रमण होगा। मंत्रिमंडल और पुरोहितवर्ग की अनुमति से अशौच के दिनों तक भीष्म चुप रहे। साम आदि उपायों से अमात्यों ने उग्रायुध को रोक रखा था। उस अशौच के पश्चात् स्वस्त्ययन-पूर्वक भीष्म रण के लिए निकले। तीन दिनों तक उनका

---

[1]हरिवंश १-२०-३० श्री भगवद्दत्त-लिखित 'भारतवर्ष का इतिहास' में उद्धृत, पृ० १३६-४०

उग्रायुध से लोमहर्षण युद्ध हुआ। तब भीष्म ने अस्त्र-प्रताप से उग्रायुध को मार दिया। उसकी मृत्यु के पश्चात् पांचालों के कुल में पृषत् बन गया था। भीष्म की अनुमति से इसी ने उत्तर और दक्षिण पांचाल का राज्य सँभाला। कौरवों से दब जाने के कारण अब पांचालों में उनसे प्रतिद्वंद्विता कर पाने की ताकत नहीं रह गई। वे पीछे पड़ गए। अब अकेला कौरववंश ही उन्नति की ओर अग्रसर होने लगा।

महाभारत में दिए गए वृत्तांत के आधार पर हिसाब लगाने पर पता चलता है कि भारत-युद्ध के १६४ वर्ष पहले शांतनु राजा हुए थे। इसलिए उनका राज्याभिषेक (भारत-युद्ध का काल १४२४ ई० पू० मानने पर) १५८८ ई० पू० में हुआ होगा। उन्होंने पचास वर्ष तक राज्य किया था, इससे उनके देहांत का काल १५३८ ई० पू० रहा होगा। यही समय उग्रायुध के भीष्म के साथ युद्ध का रहा होगा। इसी समय से भीष्म के नेतृत्व में कौरववंश का उत्कर्ष-काल आरंभ हुआ।

कौरवों के घरेलू मामले

राजर्षि शान्तनु के देहांत हो जाने पर माता सत्यवती की सम्मति से भीष्म ने चित्रांगद को राजगद्दी पर बैठाया। इन्होंने अपने पराक्रम से कौरव-राज्य की सीमा और भी विस्तृत की। पर इसी समय कुरु जनपद पर गंधर्वों का आक्रमण हुआ। कुरुक्षेत्र के मैदान में घमासान युद्ध छिड़ गया। सरस्वती नदी के तट पर तीन वर्ष तक लड़ाई चलती रही। इसी लड़ाई में चित्रांगद गंधर्वों के हाथ मारा गया। तब भीष्म ने विचित्रवीर्य का राजगद्दी पर अभिषेक किया। इनके यौवन प्राप्त करने पर भीष्म ने काशीराज की कुमारियों से इनका विवाह कर दिया। पर तरुणावस्था में ही विचित्रवीर्य की भी क्षयरोग से मृत्यु हो गई। अब कुरुओं का कोई राजा नहीं था। सत्यवती तथा और सब लोगों ने भीष्म पर वंशवृद्धि करने के लिए जोर डाला। पर उन्होंने उत्तर दिया—'स्वयं धर्मराज भले ही अपना धर्म छोड़ दें, परंतु मैं अपनी सत्य प्रतिज्ञा छोड़ने का संकल्प भी नहीं कर सकता।' वे ब्रह्मचर्य-व्रत पर अटल रहे। तब सत्यवती ने व्यास का स्मरण किया और उनके आने पर कहा कि 'तुम्हारा भाई विचित्रवीर्य बिना

संतान के ही मर गया। तुम उसकी वंश-रक्षा करो।' व्यासजी ने माता की आज्ञा स्वीकार करके काशीराज की कन्याओं में अंबिका से धृतराष्ट्र, अंबालिका से पांडु और उनकी दासी से विदुर को उत्पन्न किया। इन तीनों के बड़े होने पर कुरुकुल फिर से उन्नति करने लगा। 'उन दिनों सब लोग यही कहते थे कि वीर-प्रसविनी माताओं में काशीनरेश की कन्या, देशों में कुरुजांगल, धर्मज्ञों में भीष्म और नगरों में हस्तिनापुर सबसे श्रेष्ठ हैं।' धृतराष्ट्र जन्मान्ध थे और विदुर दासी के पुत्र, इसलिए वे दोनों राज्य के अधिकारी नहीं माने गए। पांडु को ही राज्य मिला।

पांडु ने पृथ्वी के दिग्विजय की ठानी। उन्होंने दशार्ण, मगध, विदेह, काशी, सुम्ह और पुण्ड्र जीते। प्रसिद्ध विजयी वीर मगधराज उनके हाथों राजगृह में मारा गया। और भी अनेक राजा पांडु से भिड़े और नष्ट हो गए। सबने पराजित होकर उन्हें पृथ्वी का सम्राट् स्वीकार किया। कुरुराष्ट्र के जितने भाग गत वर्षों में कई राजाओं ने ले लिये थे, वे पांडु ने पुनः जीत लिये।

पांडु का विवाह कुंतिभोज की कन्या कुन्ती तथा मद्रदेश की एक कन्या माद्री से हुआ था। इनसे ही पांचों पांडव—युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल तथा सहदेव का जन्म हुआ। कुंती ने पांडु के साथ विवाह होने के पहले ही कर्ण नाम के एक पुत्र को जन्म दिया था। पर वह भी कुंती का ही संतान है, इस बात से पांडव कर्ण के जीवन भर अनभिज्ञ रहे।

धृतराष्ट्र का विवाह गांधार देश की राजकुमारी गांधारी से हुआ। इससे उनके दुर्योधन, दुःशासन आदि अनेक पुत्र हुए।

अपने शेष जीवन में पांडु ने तापसधर्म ग्रहण कर लिया। इससे कुरुराष्ट्र की अवस्था फिर बिगड़ने लगी। तब भीष्म ने धृतराष्ट्र को

राजा बना दिया। इनके ही पुत्र इस समय से 'कौरव' कहलाने लगे।

सब राजकुमारों की शिक्षा एक साथ ही तत्कालीन प्रचलित प्रणाली के अनुसार होने लगी। उनके गुरु थे आदर्श योद्धा द्रोण। गुरु द्रोण को जिन दिनों दरिद्रावस्था ने घेर रखा था, उन दिनों वे अपने बालसखा पांचाल-राज द्रुपद के यहाँ कुछ सहायता माँगने गये थे। ये द्रुपद उन्हीं पृषत् के पुत्र थे जिन्हें भीष्म ने पांचाल की गद्दी पर बैठाया था। द्रुपद ने उस मौके पर द्रोण का तिरस्कार किया था। इसका बदला द्रोण ने हस्तिनापुर आ जाने पर लिया। उन्होंने अपने कौरव-पांडव शिष्यों की सहायता से उत्तर और दक्षिण दोनों पांचाल जीत लिये, किन्तु पीछे दक्षिण पांचाल द्रुपद को लौटा दिया। इसी द्रुपद की कन्या कृष्णा द्रौपदी से पांडवों का विवाह हुआ।

इस समय कौरववंश के विकास का रास्ता और भी साफ हो गया था। पर ठीक इसी समय से उनमें घरेलू फूट भी पड़ने लगी। धृतराष्ट्र के पुत्र पांडवों से बचपन से ही जलते थे। दुर्योधन उन्हें राज्य का कुछ भी हिस्सा नहीं देना चाहता था। दोनों का झगड़ा बचाने के लिए यह तय हुआ कि यमुना-पार कुरुक्षेत्र के दक्षिण का जंगल पांडवों को दे दिया जाए, और उसे वे बसा लें। वहाँ पर इस समय बहुत बड़ा खांडव वन था। पांडवों ने उसे जलाकर इन्द्रप्रस्थ नामक नगर की स्थापना की। आधुनिक दिल्ली के पास का इन्दरपत गाँव ही जहाँ वह नगर था, वह स्थान सूचित करता है। पांडवों की वह नगरी 'अमरावती के समान सुन्दर-सुन्दर भवनों से सुशोभित थी। वहाँ तरह-तरह के शीशमहल, लताकुंज, चित्रशालाएँ, नकली पहाड़, कृत्रिम झरने, बावलियाँ स्थान-स्थान पर शोभायमान थीं।'

उधर हस्तिनापुर में धृतराष्ट्र ने अपने बड़े लड़के दुर्योधन को वहाँ का राजा बना दिया। कुछ वर्षों तक दुर्योधन हस्तिनापुर में और

युधिष्ठिर इन्द्रप्रस्थ में शासन करते रहे। ये दोनों ही महत्त्वाकांक्षी थे। उस काल के महत्त्वाकांक्षी राजा दिग्विजय कर राजसूय यज्ञ किया करते थे। पांडवों ने भी ऐसा ही किया। इससे दुर्योधन की ईर्षा और भी अधिक बढ़ गई। शक्ति में वह पांडवों की बराबरी नहीं कर सकता था, इसलिए उसने जूए का प्रपंच रचा। उसमें पांडव हार गए। तब उन्हें जूए की शर्त के मुताबिक बारह बरस वनवास और तेरहवें वर्ष अज्ञातवास का दंड भुगतना पड़ा। इस बनवास के बाद जब उन्होंने अपना राज्य वापस माँगा तो दुर्योधन ने उसे देने से इनकार किया। यही आगे चलकर भारत-महायुद्ध का प्रत्यक्ष कारण बना।

कौरव-पांडवों का आपसी झगड़ा वास्तव में इस समय तक अकेले कौरव-वंश का ही मामला नहीं रह गया था। कई दृष्टियों से यह तत्कालीन सारे भारत का मामला बन गया था। इस मामले में सारे भारत के एक छत्र अधिकार प्राप्त करने की महत्त्वाकांक्षा तथा उससे संबंध रखते दाँवपेंच, दलबंदी आदि का हाथ अवश्य था। इसी कारण कौरववंश के दो भाइयों की घरेलू आग, भारतवर्ष के विभिन्न अंचलों के निवासियों के स्वार्थ से भी संबंध रखने लगी। उस स्वार्थ ने ही आर्यावर्त्त के एक छोर से दूसरे छोर तक के राजाओं और विभिन्न जातियों को एक या दूसरा पक्ष लेने के लिए बाध्य कर दिया। दोनों पक्षों का पलड़ा भारी करने में भारत के पूर्वी राष्ट्र तथा उत्तर भारत के दक्षिण-पश्चिम अंचल के यादवों ने विशेष रूप से हिस्सा लिया था।

कौरवों के घरेलू मामले सारे आर्यावर्त्त के आकाश में जिस युद्ध के बादल इकट्ठे करते जा रहे थे, वह व्यासजी-जैसे दूरदर्शी लोगों ने बहुत पहले से ही देख लिया था। पांडु की मृत्यु के बाद ही उन्होंने सत्यवती से कहा था—'माताजी! अब सुख का समय बीत गया। बड़े

बुरे दिन आ रहे हैं। दिन-दिन पाप की बढ़ती होगी। पृथ्वी की जवानी जाती रही। छल, कपट और दोषों का बोलबाला हो रहा है। धर्म, कर्म और सदाचार लुप्त हो रहे हैं। कौरवों के अन्याय से बड़ा भारी संहार होगा।' भीष्म का धर्म-ज्ञान भी इस संहार का निवारण कर पाने में असमर्थ हो गया था। विदुर द्वारा धृतराष्ट्र को दिए गए उपदेश भी व्यर्थ हो गए। परिस्थिति के सामने मनुष्यों की लाचारी अनुभव करते हुए धृतराष्ट्र भी कहते हैं—'प्रारब्ध उल्लंघन करने की शक्ति किसी भी प्राणी में नहीं है। मैं तो प्रारब्ध को ही अचल मानता हूँ, उसके सामने पुरुषार्थ तो व्यर्थ है।'

पर वास्तव में ठीक ऐसी ही बात नहीं थी। दुर्बलता के मुहूर्त में ही धृतराष्ट्र के मुँह से ऐसे वचन निकले थे। इसी को हम तत्कालीन विचारधारा का द्योतक नियम नहीं मान सकते। उस समय भी आर्य-विचार-धारा जिन उपनिषदों के वचन से निर्धारित होती थी, उसमें स्पष्ट ही कहा गया था कि कर्म करने में आत्मा स्वतंत्र है। बृहदा-रण्यक उपनिषद ने निःसंदिग्ध शब्दों में संकल्प की स्वतंत्रता प्रति-पादित करते हुए कहा था—'यह पुरुष काममय है, जैसी इसकी इच्छा होती है, वैसा ही उसका क्रतु—संकल्प होता है तथा संकल्प के अनुसार ही वह कर्म करता है।'

महाभारत-संग्राम के ऐन मौके तक विभिन्न क्षेत्रों में उस संग्राम के निवारण तथा उसके उत्कट बनाए जाने के सिलसिले में पुरुषार्थ का परिचय दिया जा रहा था। यदि तत्कालीन आर्यों के लिए प्रारब्ध कोई चीज थी तो उसका उनके पुरुषार्थ से उस काल में चलनेवाले संघर्ष का इतिहास भी कम दिलचस्प नहीं रहा है।

युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ के समय तक कौरव-वंश की प्रधानता

मध्यदेश के पश्चिमी तथा मध्य अंचल तक ही बढ़ पाई थी। उस समय तक पूर्वी अंचल में जरासंध ही सबसे प्रबल था। वह भी सारे आर्यावर्त्त का अधिपति बन जाने की उम्मीदें बाँध चुका था। पर इसी समय आर्यावर्त्त की तत्कालीन राजनीति के महान् विशारद कृष्ण ने आगे आकर पाडव-पक्ष मजबूत कर दिया। इसमे आर्यावर्त्त के एकाधिपत्य की लड़ाई में पांडव-पक्ष ही प्रबल बना और साथ ही कौरव-वंश के घरेलू झगडे का आर्यावर्त्तीय युद्ध में परिणत हो जाना भी अवश्यंभावी बन गया।

जरासंध का साम्राज्य

युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ का समय महाभारत-युद्ध के लगभग *पंद्रह वर्ष पूर्व—१४२६ ई० पू० रहा होगा।* इन *दिनों सारे उत्तर* भारत में जरासंध का आतंक छाया हुआ था। उसने चारों तरफ दिग्विजय किया था। युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ करने के संबंध में सम्मति पूछने पर कृष्ण ने जो कुछ कहा था, उससे जरासंध के *तत्कालीन प्रभुत्व तथा साम्राज्य-विस्तार का पता लगता है।* कृष्ण कहते हैं—'इस समय राजा जरासंध ने अपने बाहुबल से सब राजाओं को हराकर अपनी राजधानी में कैद कर रखा है, वह उनसे सेवा लेता है। इस समय वही है सबसे प्रबल राजा। प्रतापी शिशुपाल उसी का आश्रय लेकर सेनापति का काम कर रहा है। करुप देश का अधिपति जो महाबली है तथा मायायुद्ध में भी कुशल है, शिष्य के समान जरासंध की सेवा करता है। पश्चिम के अतुल पराक्रमी मुर और नरक देश के शासक यवनाधिपति ने भी उसी की अधीनता स्वीकार कर ली है। आपके पिता के मित्र भगदत्त भी उससे बातचीत करने में झुके रहते हैं और उसके इशारे से अपने राज्य का

शासन करते हैं। वंग, पुंड्र और किरात देश का स्वामी मिथ्या वासुदेव घमंडवश मेरे चिह्न धारण करता है; अपने को पुरुषोत्तम बतलाता है, मेरी उपेक्षा से ही जीवित है; फिर भी उसने इस समय जरासंध का ही आश्रय ले रखा है। शत्रु की तो बात जाने दीजिए, मेरे सगे श्वसुर भीष्मक भी, जो पृथ्वी के चतुर्थांश के स्वामी और इन्द्र के सखा हैं, भोजराज और देवराज जिनसे मित्रता रखते हैं, जिन्होंने अपने विद्याबल से पाण्ड्य, क्रथ; और कौशिक देशों पर विजय प्राप्त की थी, जिनका भाई परशुराम के समान बलवान है, आजकल जरासंध के वश में हैं। हम उनसे प्रेम रखते हैं, उनकी भलाई करते हैं, फिर भी वे हमसे नहीं, हमारे शत्रु से मेल रखते हैं। वे जरासंध की कीर्ति से चकित होकर अपने कुलाभिमान और बलाभिमान को तिलांजलि देकर जरासंध की शरण में रह रहे हैं। धर्मराज ! उत्तर दिशा के अधिपति अठारह भोज-परिवार जरासंध से भयभीत होकर पश्चिम की ओर भाग गए हैं। शूरसेन, भद्रकार, शाल्व, योध, पटधर, सुस्थल, मुकुद्द, कुलिन्द, कुन्ति, शाल्वायन आदि राजा, दक्षिण पाचाल एवं पूर्वकोशल और मत्स्य, सन्यस्तपाद आदि उत्तर देशों के राजा जरासंध के भय से अपना-अपना राज्य छोड़कर पश्चिम और दक्षिण की ओर भाग गए हैं। दानवराज कंस जाति-भाइयों को बहुत सताकर राजा बन बैठा था। जब उसकी अनीति बहुत बढ़ गई तब मैंने सबके कल्याण के लिए बलराम को साथ लेकर उसका वध किया। ऐसा करने से कंस का भय तो जाता रहा, परंतु जरासंध और भी प्रबल हो उठा। उसकी सेना उस समय इतनी प्रबल हो गई थी कि यदि हमलोग अस्त्र-शस्त्रों के द्वारा तीन सौ वर्षों तक लगातार उसका संहार करते रहते तब भी उसका सर्वथा सफाया नहीं कर पाते। वह अपनी शक्ति से राजाओं को जीतकर

अपने पहाड़ी क़िले में बंद कर देता है। × × × कैदी राजाओं के द्वारा वह यज्ञ सम्पन्न करना चाहता है। इसलिए और राजाओं पर विजय प्राप्त करने की चिन्ता छोड़कर सबसे पहले उन कैदी राजाओं को छुड़ाना चाहिए। धर्मराज! यदि आप राजसूय यज्ञ करना चाहते हैं, तो सर्वप्रथम कर्तव्य है कैदी राजाओं की मुक्ति और जरासंध का वध। यह काम किए बिना राजसूय यज्ञ नहीं हो सकेगा। × × × राजन्! शत्रु की उपेक्षा नहीं की जा सकती। आप में शत्रुविजय, प्रजापालन, तपस्या, शक्ति और समृद्धि—सभी गुण हैं। जरासंध में केवल एक गुण है—बल। जो लोग उसकी सेवा में लगे हुए हैं, वे भी उससे संतुष्ट नहीं हैं, क्योंकि वह उनके साथ बार-बार अन्याय करता है। उसने योग्य पुरुषों को अयोग्य काम में लगाकर अपना शत्रु बना लिया है। हमलोग उसे युद्ध के लिए बाध्य कर जीत सकते हैं। छियासी राजाओं को वह कैद कर चुका है, चौदह और बाकी हैं। फिर वह सबका वध करना चाहता है। जो उसके इस क्रूर कर्म को रोक सकेगा, वह बड़ा यशस्वी होगा और जो जरासंध पर विजय प्राप्त कर सकेगा, निश्चय ही वह सम्राट् होगा।'

कृष्ण का जरासंध के विरोध में रहना स्वाभाविक था। कंस जरासंध का दामाद था, साथ ही उसे अपना अधिपति भी मानता था। उसके मार डाले जाने पर जरासंध का क्रोध कृष्ण और मथुरावासियों पर उमड़ पड़ा था। मथुरा के यादव अधिक दिनों तक जरासंध की ताक़त के सामने नहीं टिक पाए। उन्हें वह प्रदेश छोड़कर द्वारका चले जाना पड़ा। वहाँ इस समय उनके नेता कृष्ण ही थे। राजसूय यज्ञ के अवसर पर उनका अपने सबसे बड़े शत्रु जरासंध को परास्त करने के उद्योग में लगना स्वाभाविक था।

युधिष्ठिर का भी जरासंध का विरोधी बनना लाजिमी था। उनके राज्य से सटा ही शूरसेन देश था, जो जरासंध के ही प्रभुत्वक्षेत्र में था। आर्यावर्त्त पर एकाधिपत्य जमाने के लिए इस पड़ोसी प्रदेश को अपने प्रभुत्वक्षेत्र में ले आना और अपने प्रतिद्वंद्वी जरासंध का विनाश करना उनके लिए आवश्यक था। जरासंध के पतन में पांडव तथा यादव दोनों का ही स्वार्थ था। इस कार्यपूर्ति के लिए उन दोनों के एक हो जाने पर वह काम भी आसान हो गया। कृष्ण के नायकत्व में भीम और अर्जुन ने जरासंध को मार डाला। जरासंध के पुत्र सहदेव ने उनकी अधीनता स्वीकार की। उसका ही श्रीकृष्ण, अर्जुन और भीमसेन ने मगध की गद्दी पर अभिषेक कर दिया। पर इससे जरासंध के साम्राज्य की विशृंखलता रोकी नहीं जा सकती थी। उसके अधिकार में अब मगध का केवल पश्चिमी भाग ही रह गया। जरासंध के बंदीगृह से जो राजा मुक्त कर दिए गए थे, वे अपने-अपने इलाकों के स्वतंत्र अधिकारी बन गए। पर उनपर पांडवों की धाक जम गई। उन्होंने युधिष्ठिर का चक्रवर्ती होना स्वीकार किया। मगध के पूर्वी इलाकों में कुछ दिनों तक विशृंखलता रही। उधर के अंग देश का शासक दुर्योधन ने पहले से ही कर्ण को बनवाया था। जरासंध के उधर के साम्राज्य के टुकड़े-टुकड़े हो जाने पर बाद में कर्ण के हाथ में बंग, पुण्ड्र आदि पूर्वी राज्यों का भी नायकत्व आ गया।

पर जरासंध की मृत्यु के बाद भी उसका मित्र चेदिराज शिशुपाल जीवित था। उसे ही जरासंध ने अपने समूचे साम्राज्य का प्रधान सेनापति बनाया था। उसका कृष्ण से तो बहुत पहले से ही वैर रहता आ रहा था, बाद में जरासंध से प्रतिद्वंद्विता रहने के कारण युधिष्ठिर से भी विरोध रहने लगा था। जरासंध की मृत्यु के बाद वह

कृष्ण तथा पांडवों की बढ़ती शक्ति देख उनका प्रत्यक्ष विरोधी बनने का साहस नहीं करता था, पर किसी सुयोग की ताक में अवश्य रहता था। युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ के अवसर पर श्रीकृष्ण की अग्रपूजा होती देख उसे विश्वास हो गया कि उस कार्य से बहुत-से राजा युधिष्ठिर तथा कृष्ण के विरोधी और उसके पक्ष में हो जाएँगे। भरी सभा में उसने सबको सुनाते हुए कहा—'कृष्ण राजा नहीं है, फिर यह राजाओं के सम्मान का पात्र कैसे हो सकता है?' फिर उसने युधिष्ठिर से कहा—'यदि तुम्हें कृष्ण की ही अग्रपूजा करनी थी तो इन राजाओं को, हमलोगों को बुलाकर इस प्रकार अपमान तो नहीं करना चाहिए था। हमलोग भय, लोभ आदि के कारण तुम्हें कर नहीं देते, हम तो ऐसा समझते थे कि यह सीधा-सादा धर्मात्मा मनुष्य है, यह सम्राट् हो जाए तो अच्छा ही है। पर तुम इस गुणहीन कृष्ण की पूजा करके हमलोगों का तिरस्कार कर रहे हो।' उसके तिरस्कार से तंग आकर कृष्ण ने उसका राजसूय यज्ञ के अवसर पर इकट्ठी हुई सभा में ही वध कर दिया।

अब मगध-साम्राज्य के साथ साथ उसके स्तंभ भी जाते रहे। उत्तर-भारत पर पाडवों के एकाधिपत्य प्रस्थापित करने का पथ साफ हो गया।

दक्षिणा-पथ

उत्तर-भारत में जिन दिनों महाभारत-कालीन एकाधिपत्य की लड़ाई चल रही थी, उसके निर्णायक बनने में दक्षिण के निवासी अथवा वहाँ की विचार-धारा का कुछ न कुछ हाथ अवश्य ही था। महाभारतकार ने उनका जिक्र कहीं तो दक्षिण के प्रदेशों और निवासियों के नाम गिना कर किया है और कहीं उन सबका आर्येतर विचारधारा में समावेश कर दिया है।

बहुत-से आधुनिक ऐतिहासिकों का मत है कि महाभारतकाल तक आर्यों को हमारे देश के सुदूर दक्षिणी प्रदेशों का ज्ञान नहीं हो पाया था। पर महाभारत के अध्ययन में ऐसी धारणा निराधार ही मालूम पड़ती है। उस समय तक आर्यजाति का जीवन इतना प्राणपूर्ण बन चुका था कि वे सूक्ष्म से सूक्ष्म ज्ञान के भी परे पहुँचने की चेष्टा करने लगे थे। आर्यों के बीच ऐसे ज्ञान-उपासक इने-गिने नहीं, बल्कि बहुत बड़ी संख्या में विद्यमान थे। उन ज्ञानियों को भयंकर जंगलों से भय नहीं होता था; बल्कि वे उनमें ही रहकर अपनी साधना पूरी किया करते थे। ऐसी परिस्थिति में उन लोगों

का जंगलों के पार की दुनिया का परिचय प्राप्त किए बिना ही 'इस पृथ्वी के परे का ज्ञान' प्राप्त करने में उतनी दूर तक लग जाना शायद ही स्वाभाविक कहा जा सकता है।

प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार रामचन्द्र ही आर्य-मंडली के लिए सुदूर दक्षिण और उसके भी पार सिंहल द्वीप तक का रास्ता बना गये थे। उनके बाद उस रास्ते को भूल जाना नहीं, बल्कि उसपर अधिकाधिक आगे बढ़ते जाना ही आर्यों के लिए स्वाभाविक था। ऐसा विचार करने पर महाभारत में दी गई पांडवों के दिग्विजय के समय सहदेव का दक्षिण दिशा में बहुत बड़ी सेना लेकर दिग्विजय के लिए निकलना सच्ची घटना हो सकती है। इस संबंध में सभापर्व में कहा गया है—'उसी समय सहदेव ने भी बहुत बड़ी सेना के साथ दिग्विजय के लिए दक्षिण की यात्रा की थी। उन्होंने क्रमशः मथुरा, मत्स्यदेश और अधिराज के अधिपतियों को वश में करके करद सामंत बना लिया। राजा सुकुमार और सुमित्र के बाद द्वितीय मत्स्य और पट्टचरों को जीता और बलपूर्वक निषाद-भूमि, गोश्रृंगपर्वत और श्रेणिमान् राजा को अपने वश में कर लिया। नरराष्ट्र पर विजय प्राप्त कर लेने के बाद कुन्तिभोज पर आक्रमण किया और उन्होंने सहर्ष धर्मराज का शासन स्वीकार कर लिया। इसके बाद सहदेव नर्मदा की ओर बढ़े। उधर उज्जैन के प्रसिद्ध वीर विन्द और अनुविन्द को हराकर वश में कर लिया। नाटकेय और हेरम्बकों को परास्त कर मारुध तथा मुंजग्राम पर अधिकार कर लिया। उन्होंने क्रमशः अर्बुक, वातराज और पुलिन्दों को हराकर पांड्यनरेश पर विजय प्राप्त की और किष्किंधा के मैंद एवं द्विविद को जीता तथा माहिष्मती पर धावा बोल दिया। भयंकर युद्ध के बाद महाराज नील उनके करद

सामंत बन गए। आगे बढ़कर त्रिपुर-रक्षक और पौरवेश्वर को वश में किया। सुराष्ट्र देश के स्वामी कौशिकाचार्य आकृति पर विजय प्राप्त करके भोजकट के स्वामी और निषध के भीष्मक के पास दूत भेजा। उन लोगों ने श्रीकृष्ण के संबंध के कारण बड़े प्रेम से सहदेव की आज्ञा मान ली। वहाँ से चलकर शूर्पारक, तालाकट, दंडक और समुद्री टापुओं को अपने अधीन करते हुए म्लेच्छ, निषाद, पुरुषाद, कर्णप्रावरण एवं कालमुखसंज्ञक मनुष्य तथा राक्षसों पर विजय प्राप्त की। कोल्लाचल, सुरभीपट्टन, ताम्रद्वीप और राम-पर्वत उनके वश में हो गए। राजा तिमिंगिल, जंगली केरल, एक पैरवाले पुरुष तथा संजयंती नगरी उनकी हो गई। पाखण्ड और करहाटक भी अलग नहीं रह गए। पाण्ड्य, द्राविड़, उंड्र, केरल, आंध्र, तालवन, कलिंग, उष्ट्रकर्णिक, आटवीपुरी और आक्रमणकारी यवनों की राजधानियाँ भी उनके वश में हो गईं। सहदेव ने दूत के द्वारा लंकाधिपति के पास संदेश भेजा और विभीषण ने (अवश्य ही राजा का द्योतक) बड़े प्रेम से उसे स्वीकार कर लिया। सहदेव ने इसे भगवान् श्रीकृष्ण की ही महिमा समझी। सभी स्थानों से उन्हें अनेक प्रकार की वस्तुएँ उपहार-रूप में प्राप्त हुई थीं। सब कुछ लेकर, सबको सामंत बनाकर बड़ी शीघ्रता से बुद्धिमान सहदेव इन्द्रप्रस्थ लौट आए और सारी वस्तुएँ धर्मराज को सौंपकर वे सुखपूर्वक वे इन्द्रप्रस्थ में रहने लगे।'

इस वर्णन में हमें महाभारत-कालीन दक्षिणापथ का पूरा परिचय मिल जाता है। अपनी विजय को श्रीकृष्ण की महिमा मानना भी सहदेव के लिए स्वाभाविक ही था। मेगास्थनीज के लेखानुसार हिरैकल (कृष्ण) को भारतवर्ष में पंडिया नाम की एक लड़की पैदा हुई जिसे उसने भारत के सुदूर दक्खिन का राज्य दिया। यहाँ

पर कृष्ण का वास्तविक तात्पर्य यादवों से और राज्य देने का अभिप्राय उपनिवेश बसाने का लिया जा सकता है। विद्वानों का अंदाज है कि शूरसेन के लोगों ने ही प्राचीन पांड्य (आजकल के मदुरा और तिरुनेवल्ली के इलाके) बसाया था। वहाँ की राजधानी का नाम भी उन्होंने अपने उत्तरी नगर मधुरा या मथुरा के नाम पर ही रखा था, जो अब भी मदुरा कहलाती है। सुदूर दक्षिण के उन इलाकों को आर्यप्रधान बना देने का वास्तविक श्रेय यादवों को ही था। वे ही सबसे पहले आंध्र तथा द्रविड़ों के संपर्क में आए थे। महाभारत युद्ध में पाड्य और चोल सैनिकों के साथ-साथ आँध्र और द्रविड़ सैनिकों के भी भाग लेने का जिक्र किया गया है। ये आन्ध्र और द्राविड़ सैनिक बीच की सेना में थे जिसने यादव कृतवर्मा के साथ कौरवों की ओर से युद्ध किया था।

पर इतनी दूर तक सुदूर दक्षिण में अपने उपनिवेश बसा लेने पर भी ठेठ दक्षिणी जातियों के प्रति की भ्रान्तियाँ साधारण आर्य मस्तिष्क से महाभारतकाल तक दूर नहीं हो पाई थीं। संभव है, इन भ्रान्तियों का आधार आकृति की रूपरंग-संबंधी विभिन्नताएँ, विचारों का विभेद और भूमि-संबंधी प्रभुत्व का झगड़ा रहा हो। दक्षिण की कई जातियों का नाम इस समय भी राक्षस ही दिया जाता था। उनका चित्र आँकते समय व्यासदेव-जैसे कुशल चित्रकार ने भी साधारण प्रचलित खयालों का ही सहारा लिया है। हिडिंबा से उत्पन्न भीम-पुत्र का रूप वर्णन करते समय संजय कहते हैं—'घटोत्कच का शरीर बहुत बड़ा था, उसका मुँह ताँबे-जैसा और आँखें सुर्ख रंग की थीं। पेट धँसा हुआ, सिर के बाल ऊपर की ओर उठे हुए, दाढ़ी-मूँछ काली, कान खूँटी-जैसे, ठोढ़ी बड़ी और मुँह का छेद कान तक फैला हुआ था। दाढ़ें तीखी और विकराल थीं। जीभ और

ओठ ताँबे-जैसे लाल-लाल और लंबे थे। भौंहें बड़ी-बड़ी, नाक मोटी, शरीर का रंग काला, कंठ लाल और देह पहाड़ जैसी भयंकर थी। भुजाएँ विशाल थीं, मस्तक का घेरा बड़ा था। उसकी आकृति बेडौल थी, शरीर का चमड़ा कड़ा था। सिर का ऊपरी भाग केवल बढ़ा हुआ मास का पिंड था, उसपर बाल नहीं उगे थे। उसकी नाभि छिपी हुई और नितंब का भाग मोटा था। भुजाओं में भुजबंद आदि आभूषण शोभा पाते थे। मस्तक पर सोने का चमचमाता हुआ मुकुट, कानों में कुंडल और गले में सुवर्णमयी माला थी। उसने काँसे का बना हुआ चमकता कवच पहन रखा था।'

कहीं कहीं उपासना-प्रणाली अलग रहने के कारण दक्षिण के ही किसी जाति-विशेष के लोगों को असुर या दानव कहकर भी संबोधन किया गया है। संभव है, कृष्ण और अर्जुन ने ऐसे ही किसी मयासुर का खांडव वन जलाते समय निस्तार किया था। अपनी कृतज्ञता प्रकाश करने के स्वरूप उस असुर ने अर्जुन को देवदत्त शंख और भीम को गदा उपहार किया था। शंख अवश्य ही समुद्र-तट से संबंध रखता है, गदा को भी दक्षिण की कारीगरी में ही श्रेष्ठता मिली थी। इसके सिवा मयासुर ने युधिष्ठिर के लिये एक अद्भुत सभा का निर्माण किया था। 'उसमें सुनहले वृक्ष लहलहा रहे थे। वह ऐसी जान पड़ती थी, मानो सूर्य, अग्नि अथवा चंद्रमा की शोभा हो। उसकी अलौकिक चमक-दमक के सामने सूर्य की प्रभा भी फीकी पड़ जाती थी। × × × उस सभा-भवन में एक दिव्य सरोवर भी था। वह अनेक प्रकार के मणि-माणिक्य की सीढ़ियों से शोभायमान, कमल कुसुमों से उल्लसित और धीमी-धीमी वायु के स्पर्श से तरंगायमान था। कितने ही बड़े-बड़े नरपति भी उसके जल को स्थल समझकर धोखा खा जाते थे। निर्माण-कला

में चमत्कार दिखलाना हमारे देश में बहुत अर्से से दक्षिणी जातियों की ही विशेषता रहती चली आ रही थी।

जहाँ तक धर्मपरायणता का प्रश्न था, आर्यधर्म की दृष्टि से सब राक्षस अधर्मी ही होते हों वैसी बात नहीं थी। धार्मिक राक्षस के उदाहरण-स्वरूप हम शान्तिपर्व में राक्षस-राज विरूपाक्ष का उदाहरण ले सकते हैं। मध्य देश में उत्पन्न हुए एक पतित कृतघ्न ब्राह्मण गौतम के सामने आने पर राक्षस-राज उसका विधिवत् पूजन कर उसे उत्तम आसन पर बैठा उसके गोत्र, शाखा और ब्रह्मचर्यावस्था में किये हुए स्वाध्याय के विषय में प्रश्न करते हैं। फिर कार्तिक-पूर्णिमा के दिन भोजन के समय हजारों विद्वान् ब्राह्मण स्नान कर रेशमी वस्त्र धारण किए राक्षस-राज के यहाँ आ पहुँचते हैं। राक्षस-राज की आज्ञा से सेवक ने जमीन पर कुशाओं के सुन्दर आसन बिछा दिए। जब ब्राह्मण उनपर विराजमान हो गए तो राजा विरूपाक्ष ने तिल, कुश और जल लेकर उनका विधिवत् पूजन किया। उनमें विश्वदेवों, पितरों तथा अग्निदेव की भावना करके उसने सबको चंदन लगाया और फूल की मालाएँ पहनायीं। × × इसके बाद उसने हीरों से जड़ी हुई सोने की थालियों में घी से बने हुए मीठे पकवान परोसकर उनके आगे रख दिए। भोजन के पश्चात् ब्राह्मणों के समक्ष रत्नों की ढेरी लगाकर विरूपाक्ष ने कहा—'द्विजवरो! आपलोग अपनी इच्छा और शक्ति के अनुसार इन रत्नों को उठा लें और जिसमें आपने भोजन किया है, उन सुवर्णमय पात्रों को भी अपने-अपने घर लेते जायँ।'

वहाँ से चलकर कृतघ्न गौतम ब्राह्मण ने राजा विरूपाक्ष के मित्र राजधर्मा को मार डाला। गौतम पकड़कर राजा के सामने लाया गया। राजा ने उसके मांस के टुकड़े बाँटकर खा जाने के लिये

राक्षसों से कहा। किन्तु राक्षसों ने नहीं खाया। 'दस्युओं ने भी उसका मांस खाना स्वीकार नहीं किया। मांसाहारी जीव भी कृतघ्न का मांस नहीं खाते।'

इस उदाहरण में हम राक्षस-राज विरूपाक्ष तथा उसके अनुयायियों को वैदिक आचार-व्यवहार मानता देखते हैं, दूसरी ओर मध्यदेश में जन्म लिये ब्राह्मण को ही अनाचारी पाते हैं। पर यह उदाहरण अवश्य ही अपवाद है। जहाँ तक विचारधारा का प्रश्न है, आर्यों से दक्षिण में निवास करनेवाली जातियों के इस काल तक अवश्य ही विभिन्न थे। इस विभिन्नता का द्योतक उदाहरण हमें महाभारत में ही दिये सुन्द-उपसुन्द के उपाख्यान में मिलता है। 'ये दोनों बड़े शक्तिशाली, पराक्रमी, क्रूर और दैत्यों के सरदार थे। तपस्या के बाद जब इन्हें वरदान मिल जाता है तब दोनों भाई सजधज-कर उत्सव मनाने लगते हैं। उस समय इनका नगर जिस आवाज से गूँज उठता है, वह रहता है—'खाओ-पीओ और मौज उड़ाओ।'

तपस्या से इस ढंग की सुखप्राप्ति अवश्य ही आर्येतर विचार-धारा का लक्ष्य रहा है। फिर उस तपस्या के ही बल सुन्द-उपसुन्द ने इन्द्रलोक, यक्ष, राक्षस, नाग, म्लेच्छ आदि सबपर विजय प्राप्त करके सारी पृथ्वी को अपने वश में करने की चेष्टा की। दोनों भाइयों की आज्ञा से असुरगण घूम-घूमकर ब्रह्मर्षि और राजर्षियों का सत्यानाश करने लगे। वे ब्राह्मणों के अग्निहोम की अग्नि उठाकर पानी में फेंक देते। तपस्वियों के आश्रम उजड़ गये। उनमें टूटे-फूटे कमंडलु, स्रुवा और कलशों के ही दर्शन होते थे। जब ऋषि लोग दुर्गम स्थानों में जा-जाकर छिपने लगे तब ये दोनों असुर, हाथी, सिंह और बाघ बनकर उनकी हत्या करने लगे। ब्राह्मण और क्षत्रिय का विध्वंस होने लगा। यज्ञ, स्वाध्याय और उत्सवों के

बंद होने से चारों ओर हाहाकार मच गया। बाजार के कारोबार बंद हो गये। संस्कारों का लोप होने और हड्डियों का ढेर लग जाने से पृथ्वी भयंकर हो गयी। तब देवताओं ने तिलोत्तमा की सहायता से उन दानवों का ध्वंस करवाया। 'इन्द्र को राज्य मिला, संसार की व्यवस्था ठीक हो गयी।'

इस उपाख्यान का ऐतिहासिक मतलब अवश्य ही उस काल का वृत्तांत बतलाता है जब दक्षिण की आर्येतर शक्तियों का आर्यों के प्रदेशों पर कुछ काल के लिये आधिपत्य हो गया था। दक्षिण की उन जातियों के जीवन का आदर्श 'भोग' था; इसलिए उनकी त्याग-प्रधान जीवन व्यतीत करनेवाले आर्यों से नहीं बन सकती थी।

पर महाभारत-काल आते-आते, संभव है, दक्षिण के साथ के अधिकाधिक संपर्क के ही कारण हो, आर्यों में भी 'भोग' का आदर्श स्थान जमाता आ रहा था। इस भोग के माननेवाले आदर्श के प्रतीक-स्वरूप हम दुर्योधन के ही विचार और जीवन को उदाहरण-स्वरूप ले सकते हैं। वन-पर्व में इसका बहुत सुन्दर ढंग से वर्णन किया गया है। दुर्योधन आदि यह सोचकर कि पांडव लोग वन में विपरीत परिस्थिति में रहकर कष्ट भोग रहे हैं, उनकी और द्रौपदी की हँसी उड़ाने गये थे। पर वहाँ एक सरोवर पर गंधर्वों ने उन्हें बुरी तरह परास्त किया, पांडवों के हाथ ही उनकी रक्षा हुई। तब क्षोभवश दुर्योधन ने आत्महत्या की ठानी। उस समय देवताओं से पराजित पातालवासी दैत्य और दानवों ने विचार किया कि यदि इस प्रकार दुर्योधन का प्राणांत हो गया तो हमारा पक्ष गिर जायगा। दुर्योधन को उन्होंने अपने पास बुलवाकर कहा...... 'आपकी सहायता के लिए अनेक दानववीर पृथ्वी पर उत्पन्न हो चुके हैं। कुछ दूसरे दैत्य भीष्म, द्रोण और कृप आदि के शरीर में

प्रवेश करेंगे, जिससे वे दया और स्नेह को तिलांजलि देकर आपके शत्रुओं से संग्राम करेंगे। उनके सिवा क्षत्रिय जाति में उत्पन्न हुए और भी अनेक दैत्य और दानव आपके शत्रुओं के साथ युद्ध में पूरे पराक्रम से भिड़ जायँगे। × × देखिए, देवताओं ने तो पांडवों का आश्रय ले रखा है और आप सर्वदा हमारी गति हैं।'

कौरव-पांडव-युद्ध के सिलसिले में उन दोनों के बीच का विचार-धारासंबंधी विभेद भी बहुत महत्व रखता है। दुर्योधन की भोगवासना-प्रधान बुद्धि आर्येतर विचारधारा की समर्थक थी। उसका पक्ष अधर्म का कहा गया है। संभव है, स्वार्थ-ऐक्य के साथ-साथ यही विचार-धारा की समानता ही कारण रहा हो जिसकी प्रेरणावश दक्षिण की जातियों ने दुर्योधन का ही पक्ष लिया था। पांडव-पक्ष धर्म-पक्ष कहलाता था। वह पक्ष आर्योचित त्याग-प्रधान नीति का समर्थक था। इन अधर्म तथा धर्म—भोग तथा त्याग की प्रेरणाओं ने महाभारत-युद्ध का स्वरूप और भी अधिक भयंकर बना दिया था। इन्हीं प्रेरणाओं ने दो भाइयों के बीच की लड़ाई को एक अर्थ में 'आर्य-आर्येतर' युद्ध का स्वरूप दे दिया था।

महाभारत-युद्ध में विजय पांडव-पक्ष की हुई। दूसरे शब्दों में यह आर्य, धर्म, त्यागधर्मप्रधान वैदिक विचारधारावाले पक्ष की जीत थी। इस विजय की लहर ने ही सारे दक्षिणापथ को भी आर्य-संस्कृति की लहर से आच्छादित कर दिया। जिस आर्य और द्रविड़-संस्कृति का समन्वय ऋग्वेद-काल या शायद उसके भी पहले से आरंभ हुआ था, वह उसी समय आकर पूरा हुआ। इस समय से दक्षिण और उत्तर-भारत का इतिहास एक बन गया। इसी के परिणाम-स्वरूप आर्यावर्त्त एक विशाल 'भारतवर्ष' में परिणत हो गया। हमारा देश वास्तव में ही महान् बन गया।

अर्थ और धर्म

महासंग्राम छिड़ने के कुछ पहले धृतराष्ट्र संजय से पूछते हैं—'हे संजय ! ये युद्ध-प्रेमी राजा लोग पृथ्वी के लोभ से जीवन का मोह छोड़कर नाना प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों द्वारा जो एक दूसरे की हत्या करते हैं, पृथ्वी के ऐश्वर्य की इच्छा से परस्पर प्रहार करते हुए यमलोक की जनसंख्या बढ़ाते हैं और शांत नहीं होते, इससे मैं समझता हूँ कि पृथ्वी में बहुत से गुण हैं। तभी तो इसके लिए यह नर-संहार होता है?' इस प्रश्न के उत्तर के सिलसिले में संजय कहते हैं—'भूमि ही अधिक काल तक स्थिर रहनेवाली है। जिसका भूमि पर अधिकार है, उसी के वश में संपूर्ण चराचर जगत् है। इसीलिए इस भूमि में अत्यंत लोभ रखकर सब राजा एक दूसरे का प्राणघात करते हैं।'[1]

इस प्रश्नोत्तर से पता चलता है कि महाभारत संग्राम के मूल कारणों में भूमि-संबंधी प्रश्न ही थे। इसी को और एक जगह

[1] भीष्मपर्व.

विस्तृत माने में 'अर्थ' कहा गया है। दोनों पक्ष की सेनाएँ एक दूसरे पर हमला करने के लिए खड़ी हो जाती हैं, उस समय जब युधिष्ठिर भीष्मपितामह से आशीर्वाद लेने जाते हैं, तो पितामह कहते हैं—'राजन्! यह पुरुष अर्थ का दास है, अर्थ किसी का भी दास नहीं है—यही सत्य है और इस अर्थ से ही कौरवों ने मुझे बाँध रखा है। इसी से मैं तुम्हारे साथ नपुंसकों की-सी बातें कर रहा हूँ। वेटा! युद्ध तो मुझे कौरवों की ओर से ही करना पड़ेगा। हाँ, इसके सिवा तुम और जो कुछ कहना चाहो, वह कहो।' गुरु द्रोणाचार्य, कृपाचार्य और शल्य भी भीष्म के ही शब्दों में अपनी बेबसी दिखलाते हैं। इससे पता चलता है कि महाभारतकालीन जीवन में अर्थ बहुत ही महत्व का स्थान रखता था।

महाभारतयुद्ध समाप्त हो जाने पर जब कर्म-अकर्मों की विवेचना चलती है, उस समय युधिष्ठिर अपने भाइयों तथा विदुरजी से पूछते हैं—'धर्म, अर्थ और काम—इन तीनों में कौन उत्तम, कौन मध्यम और कौन लघु है? इन तीनों को प्राप्त करने के लिए विशेषतः किसमें मन लगाना चाहिए? यह बात आप सब लोग अपने-अपने विश्वास के अनुसार बताइए।'

अर्जुन का उत्तर होता है—'राजन्! यह कर्मभूमि है। यहाँ जीविका के साधनभूत कर्मों की ही प्रशंसा होती है। खेती, व्यापार, गोपालन तथा भाँति-भाँति के शिल्प, ये सब अर्थ-प्राप्ति के ही साधन हैं। अर्थ ही समस्त कर्मों की मर्यादा है। अर्थ (धन) के बिना धर्म और काम भी सिद्ध नहीं होते। धनवान् मनुष्य धन के द्वारा उत्तम धर्म का पालन और दुर्लभ कामनाओं की प्राप्ति भी कर सकता है। सब प्रकार के संग्रह से रहित, संकोचशील, शांत एवं

गेरुआ वस्त्र पहने, दाढ़ी-मूँछ बढ़ाये विद्वान् पुरुष भी धन की अभिलाषा करते पाये जाते हैं। कई ऐसे हैं, जो स्वर्ग के इच्छुक हैं, और कुल-परंपरागत नियमों का पालन करते हुए अपने-अपने वर्ण तथा आश्रम के धर्मों का अनुष्ठान कर रहे हैं। फिर भी उन्हें धन की चाह बनी हुई है। धनवान् वही है, जो अपने भृत्यों को उत्तम भोग और शत्रुओं को दंड देकर उन्हें वश में रखता है। महाराज! मेरा तो यही मत है।'

धर्म और अर्थ के ज्ञाता नकुल तथा सहदेव ने भी कहा—'राजन्! मनुष्य को बैठते, सोते, उठते और चलते-फिरते समय भी छोटे-बड़े हर तरह के उपायों से दृढ़तापूर्वक धन कमाने का उद्योग करना चाहिए। धन दुर्लभ और अत्यंत प्रिय वस्तु है, इसकी प्राप्ति हो जाने पर मनुष्य संसार में अपनी संपूर्ण कामनाएँ पूर्ण कर सकता है।'

पांडवों ने अर्थ की यह महिमा अवश्य ही सांसारिक जीवन और सुख को सामने रखकर वर्णन किया था। पर उनकी दृष्टि से भी अर्थ का विचार करते समय धर्म स्वाभाविक रूप से आ जाता है। नकुल-सहदेव ही कहते हैं—'धर्मयुक्त अर्थ और अर्थयुक्त धर्म—ये अमृत के समान लाभदायक हैं; इसलिए हम धर्म और अर्थ—दोनों को आदर देते हैं। निर्धन मनुष्य की कामना नहीं पूर्ण हो सकती और धर्महीन मनुष्य को धन भी कैसे मिल सकता है? अतः पहले धर्म का आचरण और फिर धर्म के अनुसार अर्थ-संग्रह करे। इसके बाद कामनाओं का सेवन करना चाहिए। इस प्रकार त्रिवर्ग का सेवन करने से मनुष्य सफल-मनोरथ होता है।'

सांसारिकता से ऊपर उठनेवालों के लिए विदुरजी ने धर्म की ही श्रेष्ठता बतलाते हुए कहा—'बहुत-से शास्त्रों का अनुशीलन,

तप, त्याग, श्रद्धा, यज्ञ, क्षमा, भावशुद्धि, दया, सत्य और संयम—ये सब आत्मा की संपत्ति हैं। युधिष्ठिर ! तुम इन्हीं को प्राप्त करो। धर्म से ही ऋषियों ने संसार-समुद्र को पार किया है, धर्म के ही आधार पर संपूर्ण लोक टिके हुए हैं, धर्म से ही देवताओं की उन्नति हुई है और धर्म में ही अर्थ की भी स्थिति है। मनीषी विद्वान् धर्म को उत्तम, अर्थ को मध्यम और काम को लघु बतलाते हैं। अतः मन को वश में रखकर धर्म को ही अपना प्रधान ध्येय बनाना चाहिये और संपूर्ण प्राणियों के साथ वैसा ही बर्ताव करना चाहिए, जैसा हम अपने लिए चाहते हैं।'

मोक्ष चाहनेवालों का कर्तव्य बतलाते हुए स्वयं युधिष्ठिर कहते हैं—'जो न पाप में लगा हो, न पुण्य में, न अर्थोपार्जन में प्रवृत्त हो, न धर्म या काम के सेवन में, जिसकी दृष्टि में मिट्टी का ढेला और सोना एक समान हो, वह सब प्रकार के दोषों से रहित मनुष्य दुख और सुख देनेवाली सिद्धियों से सदा के लिए मुक्त हो जाता है। स्वयंभू भगवान् ब्रह्माजी का कहना है कि 'जिसके मन में आसक्ति है, उसकी कभी मुक्ति नहीं होती।' किन्तु जो धर्म, अर्थ और काम—इस त्रिवर्ग से रहित है, वही दुर्लभ पुरुषार्थ मोक्ष प्राप्त करता है ; इसलिए गूढ़ तत्त्व का ज्ञान ही संसार का हित करनेवाला है।'

युधिष्ठिर का यह मार्ग अवश्य ही सिर्फ आदर्श मनुष्य के लिए ही संभव था। उस रास्ते पर चल सकनेवाले महाभारतकाल में भी बहुसंख्यक लोग नहीं हो सकते थे। वह आदर्श गीता के 'स्थितप्रज्ञ' की भाँति बिरले महान् आत्माओं द्वारा ही पालन किया जा सकता था। साधारण जीवन तथा व्यवहार के लिए अर्थ तथा धर्म की एक अलग परिभाषा करने की आवश्यकता थी। वह

की इच्छा प्रकट करते हैं, उस समय इन्द्र उन्हें उपदेश देते हैं—'आदिदेव भगवान विष्णु से तो पहले राज-धर्म ही प्रवृत्त हुआ है, दूसरे धर्म तो उसी के अंग हैं और उसके बाद ही प्रकट हुए हैं। सब धर्मों का अंतर्भाव क्षात्र धर्म में ही (यहाँ क्षात्र धर्म राज-धर्म का पर्यायवाची है) हो जाता है; इसलिए इसी को सबसे श्रेष्ठ कहा जाता है। भगवान ने क्षात्र धर्म के द्वारा ही शत्रुओं का दमन करके देवता और ऋषियों की रक्षा की थी। यदि वे असुरों से आक्रान्त इस पृथ्वी को न जीतते, तो ब्राह्मणों का नाश हो जाने से चारों वर्ण और चारों आश्रमों के सभी धर्मों का नाश हो जाता। इन सनातन धर्मों का सैकड़ों बार नाश हो चुका है; किन्तु क्षात्र धर्म ने इन्हें पुनः उज्जीवित कर दिया है। युग-युग में इसी के कारण सनातन धर्मों का उद्धार हुआ है; इसलिए मनुष्यों में इसी धर्म को सबसे अच्छा माना जाता है। युद्ध में शरीर की आहुति देना, समस्त प्राणियों पर दया करना, लोक-व्यवहार का ज्ञान प्राप्त करना, भयभीत प्रजा की रक्षा करना और दुखी लोगों को दुख से छुड़ाना, ये सब बातें राजाओं के क्षात्र धर्म में ही पायी जाती हैं। × × × इस प्रकार संसार में क्षात्र धर्म ही सबसे श्रेष्ठ, सनातन, *नित्य, अविनाशी* और सब जीवों का उपकार करनेवाला है; इसका पर्यवसान मोक्ष में ही होता है। × × × राजन्! जब दंडनीति नष्ट हो जाती है और राज-धर्म की उपेक्षा होने लगती है,

देश की रक्षा करके रहूँगा' उसे भी ब्रह्मलोक ही प्राप्त होता है। × ×जो धन का लोभी राजा मोहवश प्रजा से शास्त्र-विरुद्ध अधिक कर लेकर उसे कष्ट पहुँचाता है, वह अपने ही हाथों अपना नाश करता है। जैसे दूध के लोभ से गाय का थन काट लेने-वाले को दूध नहीं मिलता, उसी प्रकार अन्यायपूर्वक प्रजा को चूसने से राष्ट्र की उन्नति नहीं होती। × ×दंड-नीति को एकदम छोड़-कर राजा प्रजा को दुख देने लगता है, तो पृथ्वी पर कलियुग फैल जाता है। × × कलियुग को चलानेवाले राजा को अत्यंत पाप होता है। उसके कारण उसे बहुत समय तक नरक भोगना पड़ता है तथा प्रजा के पाप में डूबकर अपयश और पाप का भागी अलग ही बनना पड़ता है।'

स्वयं युधिष्ठिर जब भारतयुद्ध में अपने आत्मीय स्वजनों के मारे जाने से खिन्न हो जाते हैं और वन में चले जाने की सोचने लगते हैं, तो उन्हें कर्त्तव्यज्ञान कराते समय राजधर्म का ही आश्रय ले भीष्म परामर्श देते समय कहते हैं—"मैं जानता हूँ, तुम्हारी बुद्धि में कोमलता अधिक है, मगर राजा के लिए यह गुण नहीं है। निरे कोमल स्वभाव का मनुष्य राज्य का शासन नहीं कर सकता। तुम्हें अत्यंत धार्मिक, कोमल और दयालु देखकर लोग कायर समझेंगे, तुम्हारे प्रति उनकी महत्त्वबुद्धि नहीं होगी। इसलिए तुम अपने बाप-दादों के व्यवहार को ही अपनाओ। × ×तुम प्रसन्नतापूर्वक कुरु देश के राजा बनो और सत्पुरुषों की रक्षा तथा दुष्टों का संहार करके स्वर्ग पर अधिकार प्राप्त करो। जैसे सब प्राणी मेघ के और पक्षी वृक्ष के सहारे जीवन-निर्वाह करते हैं, उसी प्रकार सुहृद् और सज्जन पुरुष तुम्हारे आश्रित होकर जीविका चलावें। जो राजा धृष्ट, शूर, प्रहार करनेवाला, 'दयालु, जितेन्द्रिय, प्रजा पर स्नेह

की इच्छा प्रकट करते हैं, उस समय इन्द्र उन्हें उपदेश देते हैं—'आदिदेव भगवान विष्णु से तो पहले राज-धर्म ही प्रवृत्त हुआ है, दूसरे धर्म तो उसी के अंग हैं और उसके बाद ही प्रकट हुए हैं। सब धर्मों का अंतर्भाव क्षात्र धर्म में ही (यहाँ क्षात्र धर्म राज-धर्म का पर्यायवाची है) हो जाता है ; इसलिए इसी को सबसे श्रेष्ठ कहा जाता है। भगवान ने क्षात्र धर्म के द्वारा ही शत्रुओं का दमन करके देवता और ऋषियों की रक्षा की थी। यदि वे असुरों से आक्रांत इस पृथ्वी को न जीतते, तो ब्राह्मणों का नाश हो जाने से चारों वर्ण और चारों आश्रमों के सभी धर्मों का नाश हो जाता। इन सनातन धर्मों का सैकड़ों बार नाश हो चुका है ; किन्तु क्षात्र धर्म ने इन्हें पुनः उज्जीवित कर दिया है। युग-युग में इसी के कारण सनातन धर्मों का उद्धार हुआ है ; इसलिए मनुष्यों में इसी धर्म को सबसे अच्छा माना जाता है। युद्ध में शरीर की आहुति देना, समस्त प्राणियों पर दया करना, लोक-व्यवहार का ज्ञान प्राप्त करना, भयभीत प्रजा की रक्षा करना और दुखी लोगों को दुख से छुड़ाना, ये सब बातें राजाओं के क्षात्र धर्म में ही पायी जाती हैं। × × × इस प्रकार संसार में क्षात्र धर्म ही सबसे श्रेष्ठ, सनातन, नित्य, अविनाशी और सब जीवों का उपकार करनेवाला है ; इसका पर्यवसान मोक्ष में ही होता है। × × × राजन् ! जब दंडनीति नष्ट हो जाती है और राज-धर्म की उपेक्षा होने लगती है, तब सभी प्राणी कर्त्तव्यविमूढ़ हो जाते हैं।'

राज-धर्म की इसी महत्ता के कारण भीष्मपितामह भी युधिष्ठिर से कहते हैं—'अच्छे-अच्छे सत्पुरुष राज-धर्म का आचरण करते रहे हैं। × × × युद्ध में प्राणों की बाजी का अवसर आने पर जिस राजा का ऐसा निश्चय रहता है कि 'या तो मर जाऊँगा या

देश की रक्षा करके रहूँगा' उसे भी ब्रह्मलोक ही प्राप्त होता है। × × जो धन का लोभी राजा मोहवश प्रजा से शास्त्र-विरुद्ध अधिक कर लेकर उसे कष्ट पहुँचाता है, वह अपने ही हाथों अपना नाश करता है। जैसे दूध के लोभ से गाय का थन काट लेने-वाले को दूध नहीं मिलता, उसी प्रकार अन्यायपूर्वक प्रजा को चूसने से राष्ट्र की उन्नति नहीं होती। × × दंड-नीति को एकदम छोड़-कर राजा प्रजा को दुख देने लगता है, तो पृथ्वी पर कलियुग फैल जाता है। × × कलियुग को चलानेवाले राजा को अत्यंत पाप होता है। उसके कारण उसे बहुत समय तक नरक भोगना पड़ता है तथा प्रजा के पाप में डूबकर अपयश और पाप का भागी अलग ही बनना पड़ता है।'

स्वयं युधिष्ठिर जब भारतयुद्ध में अपने आत्मीय स्वजनों के मारे जाने से खिन्न हो जाते हैं और वन में चले जाने की सोचने लगते हैं, तो उन्हें कर्त्तव्यज्ञान कराते समय राजधर्म का ही आश्रय ले भीष्म परामर्श देते समय कहते हैं—'मैं जानता हूँ, तुम्हारी बुद्धि में कोमलता अधिक है, मगर राजा के लिए यह गुण नहीं है। निरे कोमल स्वभाव का मनुष्य राज्य का शासन नहीं कर सकता। तुम्हें अत्यंत धार्मिक, कोमल और दयालु देखकर लोग कायर समझेंगे, तुम्हारे प्रति उनकी महत्त्वबुद्धि नहीं होगी। इसलिए तुम अपने बाप-दादों के व्यवहार को ही अपनाओ। × × तुम प्रसन्नतापूर्वक कुरु देश के राजा बनो और सत्पुरुषों की रक्षा तथा दुष्टों का संहार करके स्वर्ग पर अधिकार प्राप्त करो। जैसे सब प्राणी मेघ के और पक्षी वृक्ष के सहारे जीवन-निर्वाह करते हैं, उसी प्रकार सुहृद् और सज्जन पुरुष तुम्हारे आश्रित होकर जीविका चलावें। जो राजा धृष्ट, शूर, प्रहार करनेवाला, 'दयालु, जितेन्द्रिय, प्रजा पर स्नेह

करनेवाला और दानी होता है, उसी का आश्रय लेकर मनुष्य जीवन-निर्वाह करते हैं।'

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि 'राज-धर्म' का बड़े ही विस्तृत अर्थ में व्यवहार किया गया है; पर क्षात्र धर्म में ही उसकी अनेक प्रमुख विशेषताओं की अभिव्यक्ति होती है।

वीरधर्म

कोई जाति जब जीवन से परिपूर्ण रहती है, तो उसके उस समय के इतिहास में वीर-गाथाओं का प्रमुख स्थान लेना स्वाभाविक होता है। आर्यजाति महाभारतकाल में अद्भुत जीवन-शक्तियों से परिपूर्ण थी; इसलिए किसी किस्म की भी दुर्बलता को—चाहे वह कितने भी छद्मरूप में प्रवेश करने की चेष्टा क्यों न करे, वह जाति पराश्रय नहीं दे सकती थी। इसलिए महाभारत में जिन वीर-गाथाओं ने स्थान लिए हैं, वे बड़े ही उच्च कोटि के हैं। उनमें हमें तत्कालीन वीर-धर्म-प्रधान-जीवन और क्षत्रिय योद्धाओं के आदर्श-संबंधी बड़े सजीव और सरस चित्र मिलते हैं। उन वीरों के विचार और कार्य हमेशा ही भय तथा मृत्यु पर विजय प्राप्त करते जाते हैं।

इस प्रसंग का, विदुला और उसके पुत्र का, 'प्राचीन इतिहास' बहुत लोकप्रिय हुआ है। संग्राम-निवारण की अंतिम चेष्टा में कृष्ण असफल होकर हस्तिनापुर से पाडवों के पास लौटने लगते हैं, उस समय कुन्ती ने अपने पुत्रों के लिए जो संवाद भेजा था, उसी में उसने

विदुला का इतिहास सुनाया है। विदुला क्षत्राणी थी। एक बार उसका औरस पुत्र सिंधुराज से परास्त होकर बड़ी दीन दशा में पड़ा हुआ था। उस समय उसने उसे फटकारते हुए कहा—'अरे अप्रियदर्शी! तू मेरा पुत्र नहीं है और न तूने अपने पिता के वीर्य से ही जन्म लिया है। तू तो शत्रुओं का आनंद बढ़ानेवाला है। तुझमें जरा भी आत्माभिमान नहीं है, इसलिए क्षत्रियों में तो तू गिना ही नहीं जा सकता। तेरे अवयव और बुद्धि आदि भी नपुंसकों से हैं। अरे! प्राण रहते तू निराश हो गया! यदि तू कल्याण चाहता है तो युद्ध का भार उठा। तू अपनी आत्मा का निरादर न कर, अपने मन को स्वस्थ करके भय त्याग दे। खड़ा हो जा! हार खाकर पड़ा मत रह। देख, प्राण जाने की नौबत आ जाए तो भी पराक्रम नहीं छोड़ना चाहिए। जैसे बाज निःशंक होकर आकाश में उड़ता रहता है, वैसे ही तू भी रणभूमि में निर्भय विचर। वीर पुरुष रणभूमि में जाकर उच्च कोटि का मानवोचित पराक्रम दिखलाकर अपने धर्म से उऋण होता है। वह अपनी निन्दा नहीं करता। वह तो निरंतर पुरुषार्थसाध्य कर्म करता रहता है। तू या तो अपना पुरुषार्थ बढ़ाकर जयलाभ कर, नहीं तो वीरगति को प्राप्त हो। जो स्त्रियों की तरह किसी प्रकार अपना पेट पाल लेता है, उसे 'पुरुष' कहना व्यर्थ ही है। यदि शूरवीर, तेजस्वी, बली और सिंह के समान पराक्रम करनेवाला राजा वीरगति पा जाता है तो भी उसके राज्य में प्रजा को प्रसन्नता ही होती है। × × जिस पुरुष ने क्षत्रिय-कुल में जन्म लिया है और जिसे क्षात्र धर्म का ज्ञान है, वह भय से अथवा आजीविका के लिए किसी के सामने नहीं झुक सकता। वह महामना वीर तो मतवाले हाथी के समान रणभूमि में विचरता है।'

पुत्र कहने लगा—'माँ! तुम वीरों की-सी बुद्धिवाली किन्तु बड़ी ही निठुर और क्रोध करनेवाली हो। तुम्हारा हृदय तो मानो लोहा का ही गढ़कर बनाया गया है। अहो! क्षत्रियों का धर्म बड़ा ही कठिन है, जिसके कारण स्वयं तुम्हीं दूसरे की माता के समान अथवा जैसे किसी दूसरे से कह रही हो, इस प्रकार मुझे युद्ध के लिए उत्साहित कर रही हो। मैं तो तुम्हारा इकलौता पुत्र हूँ। फिर भी तुम मुझसे ऐसी बात कह रही हो! जब तुम मुझे ही नहीं देखोगी तो इस पृथ्वी, गहने, भोग और जीवन से भी तुम्हें क्या सुख होगा?'

माता ने कहा—'संजय! समझदारों की सब अवस्थाएँ धर्म या अर्थ के लिए ही होती हैं। उनपर दृष्टि रखकर ही मैं तुझे युद्ध के लिए उत्साहित कर रही हूँ। × × जब तेरे अपयश का अवसर सिर पर नाच रहा है, उस समय यदि मैं तुझसे कुछ न कहूँ तो लोग मेरे प्रेम को गधी का-सा कहेंगे तथा उसे सामर्थ्य-हीन और निष्कारण बतावेंगे। अतः तू सत्पुरुषों से निन्दित तथा मूर्खों से सेवित मार्ग छोड़ दे। मुझे तो तू तभी प्रिय लगेगा, जब तेरा आचरण सत्पुरुषों के योग्य होगा। जो पुरुष विनयहीन, शत्रु पर चढ़ाई न करनेवाले, दुष्ट और दुर्बुद्धि पुत्र या पौत्र को पाकर भी सुख मानता है, उसका संतान पाना व्यर्थ है। जो अपना कर्त्तव्य कर्म नहीं करते, बल्कि निन्दनीय कर्म का आचरण करते हैं, उन अधम पुरुषों को तो न इस लोक में सुख मिलता है और न परलोक में ही। प्रजापति ने क्षत्रियों को तो युद्ध करने और विजय प्राप्त करने के लिए ही रचा है। युद्ध में जय या मृत्यु प्राप्त करने से क्षत्रिय इन्द्रलोक प्राप्त कर लेता है। शत्रुओं को वश में करके क्षत्रिय जिस सुख का अनुभव करता है, वह तो इन्द्र-भवन या स्वर्ग में भी नहीं है।'

'माता के वाग्बाणों से बिंधकर चाबुक खाए हुए घोड़े के समान उस पुत्र ने माता के आज्ञानुसार सब काम किए। यह आख्यान बड़ा उत्साहवर्धक और तेज की वृद्धि करनेवाला है।'[1] इस संदेश ने पांडवों में भी उत्साह और तेज की वृद्धि की थी। उस समय के बाद भी हमारे देश के इतिहास में मालूम नहीं और कितने वीरों को विदुला की उपर्युक्त वाणी ने वीर धर्म की प्रेरणाएँ दी होंगी जिसके कारण हमारी मातृभूमि भी वीरप्रसविनी कहलाने की उपयुक्त अधिकारिणी बन पाई है।

पर कभी-कभी वीर-धर्म की सब विशेषताओं की ठीक-ठीक परख कर पाना विद्वानों के लिए भी कठिन हो जाया करता है। युधिष्ठिर भी भीष्म पितामह से प्रश्न करते हैं—'दादाजी! क्षात्र धर्म से बढ़कर पापपूर्ण तो कोई भी धर्म नहीं है; क्योंकि राजा तो कूच करने और युद्ध करने के समय बहुत-से मनुष्यों की हत्या कर डालता है। सो कृपा कर यह बतलाइए कि ऐसा कौन-सा कर्म है जिसके द्वारा उसे पुण्यलोकों की प्राप्ति हो सकती है?'

भीष्म पितामह कहते हैं—'राजन्!...यह ठीक है कि विजय-प्राप्ति की लालसा से पहले तो राजा लोग जीवों को कष्ट ही पहुँचाते हैं, किन्तु विजय प्राप्त कर लेने पर फिर वे ही प्रजा की उन्नति भी तो करते हैं। × × जिस प्रकार खेती निरानेवाला पुरुष खेती की सफाई करने के लिए घास-फूँस उखाड़ डालता है, किन्तु इससे उस खेती का कुछ भी नहीं बिगड़ता, उसी प्रकार जो शस्त्र चलाकर तरह-तरह से सेना का संहार कर रहा है, उस राजा के इस कर्म का यही पूरा-पूरा प्रायश्चित्त है कि फिर युद्ध से बचे हुए लोगों की

---

[1] उद्योगपर्व.

उन्नति होने लगती है। जो राजा प्रजा को धनक्षय, प्राण-नाश और दुखों से बचाता है तथा लुटेरों से उसके प्राणों की रक्षा करता है, वह धनदायक और सुखप्रद माना जाता है। जो निर्भय होकर शत्रुओं पर बाणवर्षा करता है, उससे बढ़कर देवता लोग संसार में और किसी को नहीं समझते। उसके शस्त्र संग्रामभूमि में शत्रु की त्वचा को जितने स्थानों पर छेदते हैं, उसे सब प्रकार की कामनाओं को पूरी करनेवाले उतने ही अविनाशी लोक प्राप्त होते हैं। उसके शरीर से जो युद्ध-स्थल में खून बहता है, उसी के कारण वह सारे पापों से मुक्त हो जाता है। धर्मज्ञ पुरुष ऐसा मानते हैं कि क्षत्रिय युद्ध करने में जो तरह-तरह के दुख सहता है, उनसे उसका तप ही बढ़ता है। विपत्ति वीरों से अपनी रक्षा चाहनेवाले डरपोक पुरुष तो वीरों के पीछे रहा करते हैं, जो उनकी रक्षा करते हैं, वे ही पुण्य के भागी होते हैं। वीर पुरुष शत्रुओं का सामना करता है; इसलिए वह स्वर्ग के रास्ते पर बढ़ने लगता है तथा कायर अपने साथियों को संकट में डालकर मैदान छोड़कर भाग जाता है। जो क्षत्रिय ऐसा कुत्सित आचरण करे, उसे लाठी और ढेलों से मार डाले अथवा मुर्दे की तरह आग में जला दे या पशुओं की तरह पीट-पीट-कर मार डाले। राजन्! क्षत्रिय का घर के भीतर मरना अच्छा नहीं समझा जाता। जिन्हें शूरत्व का अभिमान होना चाहिए, उनकी यह दुर्बलता अधर्मरूप और निन्दा के योग्य है। जो क्षत्रिय रोगशय्या में पड़कर दीन वदन और दुर्गंधपूर्ण होकर 'हाय! बड़ा दुख है, बड़ी पीड़ा है, मैं बड़ा पापी हूँ' इस प्रकार बड़बड़ाता है और अपने आश्रितों को शोकाकुल कर देता है, वह निन्दनीय ही है। सच्चा क्षत्रियकुमार तो अपने जाति-भाइयों के साथ शत्रुओं का संहार करते हुए उनके पैने शस्त्रों से छिन्न-भिन्न होकर ही मरना चाहता है।

यह कभी युद्ध में पीठ नहीं दिखाता और अपने प्राणों की परवा न करके पूरी शक्ति से शत्रुओं का सामना करता है। इससे उसे इन्द्रलोक की प्राप्ति होती है। ऐसा शूरवीर यदि दीनता को पास नहीं फटकने देता, तो शत्रुओं से घिरकर कहीं भी मारा जाए, अक्षयलोकों को ही प्राप्त करता है।'

भीष्म द्वारा वर्णन किए गए वीरों के ये आदर्श संसार की वीर-गाथाओं में अपना विशेष स्थान रखते हैं। महाभारतकालीन आर्य इन्हीं आदर्शों पर चलते भी थे, इसीलिए हमारे देश का उस काल का इतिहास उतना उज्ज्वल बन पाया है।

युद्ध-कौशल

भीष्मपर्व के आरंभ में ही कहा गया है—'वहाँ इतनी सेना इकट्ठी हो गई थी कि कुरुक्षेत्र के सिवा सारी पृथ्वी सूनी लगती थी। केवल बालक और वृद्ध ही बच गए थे, तरुण पुरुष और घोड़ों का नाम नहीं था तथा रथ और हाथी भी कहीं नहीं बचे थे। पृथ्वी के सब देशों से कुरुक्षेत्र में सेना आई थी। सभी वर्णों के लोग वहाँ एकत्रित हुए थे। सबने अनेक योजन के मंडल में घेरा डाल रखा था। उनके घेरे में देश, नदी, पर्वत और वन भी थे।'[1] इस कथन से ही पता चलता है कि कौरव तथा पांडवों ने जब आर्यावर्त्त के एक-एक राजा को अपनी ओर खींचने का भरपूर प्रयत्न किया, तो उन्हें कितनी सफलता मिली थी। तत्कालीन भारत का शायद ही कोई अंचल ऐसा बच रहा था जहाँ के राजा अथवा जाति के नेता ने भरत-युद्ध में हिस्सा न लिया हो। जिसके संबंध अथवा स्वार्थ का जिस पक्ष से मेल खाता था, वह उस पक्ष की ओर से लड़ने के लिए दलबल-सहित सुदूर प्रदेशों से चलकर कुरुक्षेत्र के मैदान में आ खड़ा हुआ था।

महाभारतकार ने दोनों पक्ष की सेनाओं की तायदाद 'अक्षौहिणी' में बतलाई है। यह अक्षौहिणी वर्तमान अर्थ में सेना (आर्मी) रही होगी। नियमानुसार अक्षौहिणी में रथ और हाथियों की तीनगुणी घुड़सवार और पांचगुणी पैदल फौज होती थी। प्रचलित गणनानुसार यह पूरी चतुरंगिणी सेना ही होती थी जिसमें १,०९,३५० पैदल, ६५,६१० घोड़े, २१,८७० रथ और २१,८७० हाथी होते थे। इस तरह की ग्यारह अक्षौहिणी सेना कौरव और सात अक्षौहिणी पांडव पक्ष से लड़ी थीं।

ऐसी बड़ी सेना को लड़ाई में उतारने पर उसे सम्हाल पाने के लिए वैसे ही जबरदस्त संगठन तथा सेना-संबंधी नियमों की आवश्यकता पड़ जाती है। ये सब बातें विस्तृत अर्थ में—युद्धकौशल से संबंध रखती हैं। महाभारत में इस कौशल का विस्तृत विवेचन किया गया है। कौरव-पांडवों के काल तक इस कला में आर्य जाति ने जैसी निपुणता प्राप्त कर ली थी, वह आधुनिक से आधुनिक युद्ध-विशारदों को भी चकित करनेवाली है।

कौरव तथा पांडव दोनों ही पक्ष युद्ध-कौशल में बड़े निपुण थे। व्यासदेव ने उन दोनों पक्षों की विशेषताओं का विस्तृत वर्णन किया है। पांडव-पक्ष का वर्णन आरंभ करते समय उन्होंने कहा है—'युधिष्ठिर ने एक चौरस मैदान में, जहाँ घास और ईन्धन की अधिकता थी, अपनी सेना का पड़ाव डाला। श्मशान, महर्षियों के आश्रम तीर्थ और देवमंदिरों से दूर रहकर उन्होंने पवित्र और रमणीय भूमि में अपनी सेना ठहराई। वहाँ पांडवों के लिए जिस प्रकार का शिविर बनाया गया था, ठीक वैसे ही डेरे श्रीकृष्ण ने दूसरे राजाओं के लिए तैयार कराए। उन सभी डेरों में सैकड़ों प्रकार की भक्ष्य, भोज्य और पेय सामग्रियाँ थीं तथा ईंधन आदि की भी अधिकता

थी। × × × उनमें सैकड़ों शिल्पी और वैद्य लोग वेतन दे कर नियुक्त किए गए थे। महाराज युधिष्ठिर ने प्रत्येक शिविर में प्रत्यंचा, धनुष, कवच, शस्त्र, शहद, घी, लाख का चूरा, जल, घास, फूस, अग्नि, बड़े-बड़े यंत्र, बाण, तोमर, फरसे, ऋष्टि और तरकस—ये सभी चीजें प्रचुरता से रखवा दी थीं। उनमें काँटेदार कवच धारण किए, हजारों योद्धाओं के साथ युद्ध करनेवाले अनेक हाथी पर्वतों की तरह खड़े दिखाई देते थे।'

दूसरी ओर दुर्योधन ने भी अपनी ग्यारह अक्षौहिणी सेना का विभाग किया। उसने पैदल, हाथी, रथ और घुड़सवार सेना में से उत्तम, मध्यम और निकृष्ट श्रेणियों को अलग-अलग कर के उन्हें यथास्थान नियुक्त कर दिया। वे सब वीर अनुकर्ष, तरकस, वरूथ, उपासंग, शक्ति, निषङ्ग, ऋष्टि, ध्वजा, पताका, धनुष-बाण, तरह-तरह की रस्सियाँ, पाश, बिस्तर, कचग्रह-विक्षेप, तेल, गुड़, बालू, विषधर सर्पों के घड़े, राल का चूरा; घण्टफलक, खड्गादि लोहे के शस्त्र, औटा हुआ गुड़ का पानी, ढेले, साल, भिंदिपाल, मोम चुपड़े हुए मुग्दर, काँटोंवाली लाठियाँ, हल, विष लगे हुए बाण, सूप तथा टोकरियाँ, दराँत, अंकुश, तोमर, काँटेदार कवच, वृक्षादन, रथ, सींग, प्रास, कुठार, कुदाल, तेल में भीगे रेशमी वस्त्र, घी तथा युद्ध की अन्यान्य सामग्रियाँ लिए हुए थे। सब रथों में चार-चार घोड़े जुते हुए थे और सौ-सौ बाण रखे गए थे। उन पर एक-एक सारथी और दो-दो चक्ररक्षक थे। वे दोनों ही उत्तम रथी और अश्वविद्या में कुशल थे। जिस प्रकार रथ सजाए गए थे, वैसे ही हाथियों को भी सुसज्जित किया गया था। उन पर सात-सात पुरुष बैठते थे। उनमें से दो पुरुष अंकुश लेकर महावत का काम करते थे। दो धनुर्धर योद्धा थे, दो खड्गधारी थे तथा एक शक्तिधारी और

रहता है। × × अश्वारोही सेना के लिए युद्धविद्या-विशारदों ने वह मैदान अच्छा बताया है जिसमें कीचड़, जल, बाँध और ढेले न हों; जहाँ कीचड़ और गड्ढे न हों वह भूमि रथ-सेना के लिए अच्छी होती है; जहाँ ऊँचे-नीचे वृक्ष तथा जल हो वह स्थान गजारोहियों के लिए ठीक होता है और जो भूमि दुर्गम, ऊँची-नीची, बाँस और बेंतों से भरी हुई तथा पहाड़ी और जंगली हो वह पैदल सेना के लिए अच्छी मानी गई है।'

मोर्चेबंदी के सिलसिले में कहा गया है कि सेना की व्यूहरचना करते समय सबसे आगे ढाल तलवार-धारी पुरुषों की टुकड़ी रखे, पीछे की ओर रथियों को खड़ा करे और बीच में परिवार के लोगों को रखे। शत्रुओं पर आक्रमण करने के लिए जो पुराने सैनिक हों वे आगे रहें और अपने पीछे चलनेवाले पदातियों का उत्साह बढ़ावें। यदि थोड़े सैनिकों को बहुतों के साथ युद्ध करना पड़े तो उन्हें सूची-मुख व्यूह बनाना चाहिए और हाथ उठाकर इस प्रकार कोलाहल करना चाहिए—"देखो, देखो, वैरी भाग रहे हैं। हमारी मित्र-सेना आ गई है, बेखटके चोट किए जाओ!' इस प्रकार भीषण शब्द करते हुए साहस के साथ शत्रु पर प्रहार करे। जो लोग सेना के मुहाने पर हों, उन्हें गर्जन-तर्जन और किलकिला शब्द करते हुए क्रकच, नरसिंहे, भेरी, मृदंग और ढोल आदि बाजे बजवाने चाहिए।

तत्कालीन विभिन्न प्रदेशों के युद्धकौशल की विशेषताओं का भी अध्ययन किया गया था—'गांधार और सिंधुसौवीर देशों के योद्धा दाँतोंवाले प्रास से युद्ध करते हैं। वे बड़े निडर और बलवान होते हैं। उशीनर देश के वीर सभी प्रकार के शस्त्रों में कुशल और बड़े बलशाली होते हैं। पूर्वी योद्धा गजयुद्ध में पारंगत होते हैं, वे कपटयुद्ध करना खूब जानते हैं। यवन, कंबोज और मथुरा की

ओर के योद्धा मल्ल-युद्ध में पक्के होते हैं और दक्षिणी वीर तलवार चलाना अच्छा जानते है।'

नायकों तथा मोर्चा तोड़नेवाली फौज की विशेष शिक्षा का भी खयाल रखा जाता था। इस संबंध में सलाह दी गई है—'सेना में कुछ लोगों को तो दस-दस सैनिकों का नायक बनावे और कुछ को सौ का तथा फिर एक हजार वीरों का अध्यक्ष नियुक्त करे। प्रधान-प्रधान वीरों को इकट्ठा कर के यह प्रतिज्ञा करावे कि हम संग्राम में विजय प्राप्त करने के लिए एक दूसरे को नहीं छोड़ेंगे। बस, या तो विजय प्राप्त करेंगे या युद्ध में मर कर सद्‌गति पाएँगे। जो लोग इस प्रकार शपथ करके प्राणों का मोह त्याग देते हैं वे निर्भय होकर शत्रु की सेना में घुस जाते हैं।'

सैनिकों की मनोभावना को भी बहुत महत्त्व दिया गया है—'सेना थोड़ी हो या बहुत, योद्धाओं का उत्साहपूर्ण हर्ष ही विजय का प्रधान लक्षण माना गया है। एक दूसरे को अच्छी तरह जाननेवाले, उत्साही, स्त्री आदि में अनासक्त तथा दृढ़निश्चयी पचास वीर भी बहुत बड़ी सेना को रौंद डालते हैं। यदि युद्ध से पीछे पैर न हटानेवाले पाँच ही सात योद्धा हों, तो वे भी विजय प्राप्त कर सकते हैं। अतः सदा सेना अधिक होने से ही विजय होती हो, ऐसी बात नहीं है।'

युद्धकौशल की इन विशेषताओं का वैदिकधर्म की प्रेरणाओं के साथ बहुत ही सुन्दर ढंग से समन्वय हुआ था। इसी कारण आर्यजाति का अन्तर और बाह्य दोनों ही जीवन अपूर्व रूप में निर्भय बन गया था। भारतयुद्ध के योद्धा आरंभ से अंत तक इसी अद्भुत निर्भयता का परिचय देते हैं। वे मृत्यु के साथ खेलते हैं, पर उनके

चेहरे पर कभी भी शिकन नहीं पड़ने पाती। आखिर मृत्यु जब उनका श्वास अवरुद्ध करने लगती है उस समय भी वे आखिरी साँस तक शान्त चित्त से ही उससे कहते रहते हैं—'दूर रह! अभी मुझे फ़ुर्सत नहीं।'

युद्ध-कौशल के सिवा भी भारतयुद्ध के वीरों की ये विशेषताएँ संसार के इतिहास में अद्वितीय स्थान रखती हैं।

शस्त्र-कौशल

युद्ध का भी संगीत होता है। धनुष की टंकार, रथों का घड़-घड़ और हाथियों की चिंघाड़ वीर-रस की तान छेड़ते हैं। वीरों की ललकार से उसका 'सरगम' बनता है। उन्हीं के अनुसार योद्धाओं के हृदय स्पंदित होते हैं।

इस अद्भुत संगीत को भी व्यासदेव ने अपने श्लोकों के छंद में भर रखने की चेष्टा की है—बहुत ही सफलतापूर्वक। 'भारत-युद्ध' का पाठ करते समय उसी युद्ध-संगीत-लय में आज भी हमारे हृदय स्पंदित होते हैं, अवयव फड़कते हैं, हम अपने को ही कुरुक्षेत्र के मैदान में खड़ा देखने लगते हैं। हम महाभारत का युद्ध-वर्णन जितनी ही बार पाठ करते हैं, वे हमें उतने ही घने मोर्चों के भीतर प्रवेश कराते हैं, उतना ही हम अपनी वर्तमान हालत भूलते जाते हैं और वर्णन किए जानेवाले वृत्तांत अधिकाधिक सत्य प्रतीत होने लगते हैं। वैसे मौक़ों पर यदि हमें कभी विचार करने का अवकाश मिलता है, तो सबसे अधिक चकित होते हैं तत्कालीन शस्त्र-कौशल से। थोड़ी देर के लिए हमें वास्तव में ही विराग होने लगता है कि

हम अपनी कल्पना में भी शायद ही वैसा कोई मोर्चा तैयार कर सकते हैं, जो भारत-युद्ध के शस्त्र-कौशल से जीता न जा सके। आधुनिक से आधुनिक शस्त्र-कौशल अथवा उनके परिणाम से रँगी गई युद्ध-भूमि शायद ही हमें कुरुक्षेत्र के मैदान की भाँति दंग कर पाने में समर्थ होते हैं।

संजय के मुँह से निकले वृत्तांत हमारे सामने सिर्फ वास्तविक भारत-युद्ध के चित्र ही नहीं ला खड़ा करते, बल्कि साथ ही साथ उस दृश्य की अनुभूति भी हमारे भीतर जाग्रत करने लगते हैं। उदाहरण के लिए हम उनके भीष्म, अर्जुन और अभिमन्यु के पराक्रम-संबंधी चित्र ले सकते हैं। एक स्थान पर वे कहते हैं—'उस समय हम-लोगों में और पांडवों में रोमांचकारी संग्राम छिड़ गया। थोड़ी ही देर में योद्धाओं के हजारों मस्तक और हाथ कट-कट कर जमीन पर गिरने और तड़पने लगे। कितनों ही के सिर तो कटकर गिर गए, मगर धड़ धनुष-बाण लिए खड़े ही रह गए। खून की नदी बह चली। × × × उस समय भीष्मजी अपने धनुष को मंडलाकार करके विषधर साँपों के समान बाण बरसा रहे थे। रणभूमि में वे इतनी शीघ्रता से सब ओर विचर रहे थे कि पांडव इन्हें हजारों रूप में देखने लगे। × × पाडवों में से कोई भीष्मजी को नहीं देख पाता था। उनके धनुष से छूटे हुए असंख्य बाण ही दिखाई देते थे। लोगों में हाहाकार मच गया।'

अर्जुन पितामह से लड़ने आते हैं, उस समय उनपर 'भूरिश्रवा ने सात बाण, दुर्योधन ने तोमर, शल्य ने गदा और भीष्म ने शक्ति का प्रहार किया। अर्जुन ने भी सात बाण मारकर भूरिश्रवा के बाणों को काट दिया, क्षुर से दुर्योधन का तोमर काट डाला तथा एक-एक बाण छोड़कर शल्य की गदा और भीष्म की शक्ति को भी

टूक-टूक कर दिया। इसके बाद उन्होंने दोनों हाथों से गांडीव धनुष खींचकर आकाश में माहेन्द्र नामक अस्त्र प्रकट किया। देखने में वह बड़ा ही अद्भुत और भयानक था। उस दिव्य अस्त्र के प्रभाव से अर्जुन ने संपूर्ण कौरव-सेना की गति रोक दी। उस अस्त्र से अग्नि के समान प्रज्वलित बाणों की वृष्टि हो रही थी और शत्रुओं के रथ, ध्वजा, धनुष तथा बाहुओं को काटकर वे बाण राजाओं, हाथियों और घोड़ों के शरीरों में घुस जाते थे। इस प्रकार तेज धारवाले बाणों का जाल बिछाकर अर्जुन ने संपूर्ण दिशाओं और उपदिशाओं को आच्छन्न कर दिया और गांडीव धनुष की टंकार से शत्रुओं के मन में अत्यंत पीड़ा भर दी। रक्त की नदी बहने लगी।'

अभिमन्यु भी कम वीर नहीं है। 'कौरव-सेना के भीतर घुसकर उसने इस प्रकार तहलका मचाया जैसे बड़ा भारी मगर समुद्र में हलचल पैदा कर देता है। × × राजकुमार रुक्मरथ के मित्रों ने अपने महान् धनुष चढ़ाकर बाणों की वर्षा से अभिमन्यु को ढक दिया। × × अभिमन्यु ने उस समय गंधर्वास्त्र का प्रयोग किया। वह अस्त्र-बाणों की वृष्टि करता हुआ युद्ध में कभी एक, कभी सौ और कभी हजार की संख्या में दिखाई देता था। अभिमन्यु ने रथ-संचालन की कला और गंधर्वास्त्र की माया से उन राजकुमारों को मोहित कर उनके शरीरों के सैकड़ों टुकड़े कर डाले। कितनों के धनुष, ध्वजा, घोड़े, सारथि, भुजाएँ तथा मस्तक काट डाले। × × अभिमन्यु ने क्राथपुत्र को भी भली भाँति पीड़ित किया। असंख्य बाणों की वर्षा कर उसके धनुष, बाण, केयूर, बाहु, मुकुट तथा मस्तक को भी काट डाला। साथ ही उसके छत्र, ध्वजा, सारथि और घोड़ों को भी रण में गिरा दिया। × × तब द्रोण आदि छः महारथियों ने पुनः अभिमन्यु को घेरा। × × कर्ण ने बाणों से अभिमन्यु का धनुष

काट डाला। कृतवर्मा ने उसके घोड़ों को और कृपाचार्य ने पार्श्वरक्षक तथा सारथि को भी मार डाला। × × धनुष कट गया, रथ से हाथ धोना पड़ा, तो भी उसने अपने धर्म का पालन किया। हाथ में ढाल तलवार लेकर वह तेजस्वी बालक उछल पड़ा। अपनी लघिमा शक्ति से अभी वह गरुड़ की भाँति ऊपर मड़रा ही रहा था, तब तक द्रोणाचार्य ने 'क्षुरप्र' नामक बाण से उसकी तलवार के टुकड़े-टुकड़े कर दिए और कर्ण ने ढाल छिन्न-भिन्न कर दी। अब उसके हाथ में तलवार भी न रही, सारे अंगों में बाण धँसे हुए थे; उसी दशा में वह क्रोध में भरकर चक्र हाथ में लिए द्रोणाचार्य पर झपटा। उसे देखकर राजा लोग बहुत डर गए और सबने मिलकर उसके चक्र के टुकड़े-टुकड़े कर दिए। तब महारथी अभिमन्यु ने बड़ी गदा हाथ में ली और अश्वत्थामा पर चलाई। जलते हुए वज्र के समान उस गदा को आते देख कर अश्वत्थामा रथ से उतर कर तीन कदम पीछे हट गया। गदा की चोट से उसके घोड़े, पार्श्वरक्षक और सारथि मारे गए। इसके बाद अभिमन्यु ने सुबल पुत्र कालिकेय तथा उसके अनुचर सतहत्तर गांधारों को मौत के घाट उतारा। फिर दस वसातीय महारथियों का तथा सात केकय महारथियों का संहार कर दस हाथियों को मार डाला। तत्पश्चात् दुःशासन-कुमार के रथ और घोड़ों को गदा से चूर्ण कर डाला। वह कुमार भी गदा उठाकर अभिमन्यु की ओर दौड़ा। दोनों एक दूसरे को मारने की इच्छा से परस्पर प्रहार करने लगे। दोनों पर गदा के अग्रभाग की चोट पड़ी और दोनों साथ ही पृथ्वी पर गिर पड़े। दुःशासन-कुमार पहले उठा और अभिमन्यु अभी उठ ही रहा था कि उसने उसके मस्तक पर गदा मारी। उसके प्रचंड आघात से अभिमन्यु बेहोश होकर गिर पड़ा।

उस दिन जब संध्या हुई, तो अभिमन्यु-जैसे वीर की मृत्यु से

शत्रु भी बहुत दुखी और उदास हो अपने शिविर की ओर लौटे। 'उस समय श्रेष्ठ योद्धाओं ने रक्त की नदी बहा दी थी, जो वैतरणी के समान भयंकर और दुस्तर थी। रणभूमि के मध्य में बहती हुई वह नदी जीवित और मृतक सबको अपने प्रवाह में बहाए जा रही थी। अनेक भद वहाँ नाच रहे थे; रणस्थल को देखने में डर मालूम होता था।'

महाभारत के इन वर्णनों से तत्कालीन वीर योद्धाओं के शस्त्र-कौशल का पता चलता है। जिन विशेषज्ञों ने उनका भली भाँति अध्ययन किया है, उनका कहना है कि आधुनिक से आधुनिक युद्ध-विद्या में महाभारत-काल के ही शस्त्र-कौशल का सिलसिला फिर से लाया और विस्तृत किया गया है। ऐसे विशेषज्ञों में आधुनिक रासायनिक युद्ध-विद्या में प्रवीण एक विख्यात भारतीय वैज्ञानिक के अध्ययन विशेष महत्त्व रखते हैं।[1] उस वैज्ञानिक ने 'विज्ञान का इतिहास' अध्ययन करने के सिलसिले में जो खोज की है, उसमें वे मानने के लिए बाध्य हुए हैं कि—'१५०० ई० पू० भारतवर्ष में रासायनिक युद्ध-विद्या लगभग ठीक आजकल की जैसी ही थी। उस काल में लोगों के पास आँसू निकालनेवाली (tear gas) और जम्हाई लानेवाली (yawning gas) गैस थी। वे लोग धुँआँ

---

[1] डा० वामन रामचन्द्र कोकटनूर : इनके जीवन तथा कार्यों से संबंध रखता एक लेख कलकत्ते के 'हिन्दुस्तान स्टैंडर्ड' के १६ अप्रैल १६४४ वाले अंक में प्रकाशित हुआ था। १६१२ में ही श्री कोकटनूर भारत छोड़कर अमेरिका चले गये और वहीं के वे १६२१ से नागरिक बन गये। उनकी ख्याति अन्तर्राष्ट्रीय वैज्ञानिक जगत् में काफी है।

फैलाकर उसकी आड़ में युद्ध करने की कला (smoke screen) संबंधी सिद्धान्त से भी परिचित थे। हमलोगों ने आजकल सिर्फ उस प्राचीन,युद्ध-प्रणाली का स्वरूप ही फिर से जारी किया है।'

इस तरह की खोज 'भारत-युद्ध' पर नई रोशनी डालती है और हमारे लिए उस युद्ध के—विशेषकर तत्कालीन शस्त्र-कौशल के—'वैचित्र्य' को और भी अधिक दिलचस्प तथा उपयोगी बना देती है।

युद्ध-धर्म

उच्च सांस्कृतिक स्तर पर पहुँचे लोग स्वभावतः ही मार-काट पसंद करनेवाली प्रवृत्ति नहीं रखते। उन्हें यदि 'लोक-रक्षा' की प्रेरणावश युद्ध-क्षेत्र में उतरना ही पड़ता है, तो वहाँ भी वे यथासंभव मानवीय भावनाओं की रक्षा करते चलने की ही चेष्टा करते हैं। कुरुक्षेत्र के मैदान में भी जब दोनों पक्ष की सेनाएँ एक दूसरे पर आक्रमण करने के लिए बिलकुल प्रस्तुत रहती हैं, उस समय कौरव, पांडव और सोमवंशी वीरों ने मिलकर सबसे पहले युद्ध के नियम बनाये और उन युद्ध-संबंधी धार्मिक नियमों का पालन सबके लिए अनिवार्य कर दिया। वे नियम इस प्रकार थे—

'प्रतिदिन युद्ध समाप्त होने पर हमलोग पहले की ही भाँति आपस में प्रेम-पूर्ण व्यवहार करें, कोई किसी के साथ छल-कपट न करे। जो वाग्युद्ध कर रहे हों, उनका मुकाबला वाग्युद्ध से ही किया जाय। जो सेना के बाहर निकल गये हों, उनके ऊपर प्रहार न किया जाये। रथी रथी के साथ, हाथी-सवार हाथी-सवार के साथ, घुड़सवार घुड़सवार-के साथ और पैदल पैदल के ही साथ युद्ध करे। जो जिसके

योग्य हो, जिसके साथ युद्ध करने की उसकी इच्छा हो, वह उसी के साथ युद्ध करे। जिसका जैसा उत्साह और जैसा बल हो, उसके अनुसार ही वह लड़े। विपक्षी को पुकारकर उसे सावधान करके प्रहार किया जाय। जो प्रहार न होने का विश्वास करके बेखबर हो अथवा भयभीत हो, उसपर आघात न किया जाय। जो किसी एक के साथ युद्ध कर रहा हो, उसपर दूसरा कोई शस्त्र न छोड़े। जो शरण में आया हो या युद्ध छोड़कर भाग रहा हो अथवा जिसके अस्त्र-शस्त्र और कवच नष्ट हो गये हों—ऐसे निहत्थों का वध न किया जाय। सूत, भार ढोनेवाले, शस्त्र पहुँचानेवाले तथा भेरी और शंख बजानेवालों पर भी किसी तरह प्रहार न किया जाय।'

इन साधारण नियमों के सिवा स्वेच्छा से अपने ऊपर लगाये भी कुछ नियम होते थे जिनका महाभारत में अन्य कई जगहों पर वर्णन मिलता है। भीष्म पितामह एक स्थान पर कहते हैं—'यह द्रुपद का पुत्र महारथी शिखंडी पहले स्त्री था और पीछे पुरुष हो गया है। यह यदि हाथ में धनुष लेकर मेरे सामने युद्ध करने के लिए आवेगा, तो न तो एक क्षण भी इसकी ओर देखूँगा और न इसपर शस्त्र ही छोड़ूँगा। यदि भीष्म स्त्री की हत्या करेगा, तो साधुजन उसकी निन्दा करेंगे। इसलिए इसे रण में उपस्थित देखकर भी मैं इसपर हाथ नहीं छोड़ूँगा।'

युधिष्ठिर के भी यह प्रश्न करने पर कि यदि कोई क्षत्रिय राजा दूसरे क्षत्रिय राजा पर चढ़ाई कर दे, तो उसे उसके साथ किस प्रकार युद्ध करना चाहिये, भीष्मपितामह धर्मयुद्ध पर ही बार-बार जोर देते हुए उत्तर देते हैं—'यदि वह कवच पहने हुए न हो तो उसके साथ युद्ध नहीं करना चाहिये। हाँ, कवच धारण करके आवे तो स्वयं भी तैयार हो जाय और एक पुरुष के साथ अकेला ही युद्ध करे। यदि

वह सेना लेकर आया हो, तो स्वयं भी सेना-सहित जाकर उसे ललकारे। यदि वह कपट से युद्ध करे, तो आप भी कपट-युद्ध करे और धर्म-युद्ध करे तो स्वयं भी धर्मानुसार ही उसका सामना करे। यदि शत्रु किसी संकट में पड़ जाय तो उसपर प्रहार न करे तथा डरे हुए और परास्त शत्रु पर भी वार न करे। जो बलहीन हो, जिसका पुत्र मर गया हो, जिसके शस्त्र नष्ट हो गये हों, जो विपत्ति में पड़ गया हो, जिसके धनुष की डोरी टूट गई हो अथवा जिसका वाहन नष्ट हो गया हो, उसपर कभी प्रहार न करे। ऐसा पुरुष अपने शिविर में आ जाय तो उसकी चिकित्सा करावे अथवा उनके घर पहुँचा दे—यही सनातन धर्म है। × ×. जिस योद्धा का कवच टूट गया हो, जो 'मैं आपका ही हूँ' ऐसा कह रहा हो, जो हाथ जोड़े खड़ा हो या जिसने हथियार रख दिये हों, उसे कैद कर ले, मारे नहीं। × × × जो लोग सो रहे हों, प्यासे हों, थक गये हों अथवा इधर-उधर भाग रहे हों, उनपर चोट न करे। शस्त्र और कवच उतार देने के बाद, युद्ध-स्थल से जाते समय, पानी पीते तथा भोजन करते समय भी किसी को न मारे। इसी प्रकार जो बहुत घबराये हुए हों, पागल हो गये हों, घायल हों, दुर्बल हो गये हों, असावधान हों, दूसरे किसी काम में लगे हों, बाहर घूमते हों, छावनी की ओर भाग रहे हों, उनपर भी प्रहार न करे। × × × दोनों ओर की सेनाओं के भिड़ जाने पर यदि उनके बीच में संधि कराने की इच्छा से ब्राह्मण आ जाय तो उसी समय युद्ध बंद कर देना चाहिये। यदि दोनों में से कोई भी पक्ष ब्राह्मण का तिरस्कार करता है तो वह सनातनकाल की मर्यादा तोड़ता है। ऐसे क्षत्रिय को जाति से बाहर कर देना चाहिए और उसे क्षत्रियों की सभा में स्थान नहीं देना चाहिए, क्योंकि वह अधम है। × × जो क्षत्रिय धर्मयुद्ध में अधर्म के द्वारा विजय प्राप्त करता

है, वह पापी है और स्वयं ही अपना नाश करता है। × × अतः धर्मानुसार ही युद्ध करना चाहिए। यह बात स्वयंभुव मनु ने भी कही है। सत्पुरुषों में सदा से सज्जनों का ही धर्म रहा है।'

धर्मयुद्ध के उपर्युक्त नियमों को भारत-युद्ध में यथासंभव निबाहते जाने की चेष्टा की गई है। इने-गिने स्थानों पर ही उनका उल्लंघन हुआ है। पर उनका बिना किसी हिचक अथवा द्विधा के उल्लंघन करते जाना किसी के लिए भी संभव नहीं हुआ है। पांडवों की ओर से जब कभी अन्यायाचरण हुए हैं, तो उनका सूत्रधार बनकर स्वयं कृष्ण को ही आगे आना पड़ता था और उस अवसर-विशेष के धर्म-अधर्म का निर्णय करना पड़ता था।

कर्ण के रथ का पहिया पृथ्वी में फँस गया, परशुरामजी का दिया हुआ अस्त्र भूल गया और सर्वतुल्य बाण भी कट गया। उस समय विषाद में डूबकर वह धर्म की निन्दा करता है और अर्जुन से कहता है—'कुन्तीनंदन! तुम बड़े धनुर्धर हो; जब तक मैं अपना यह फँसा हुआ पहिया ऊपर निकाल न लूँ, तब तक क्षण भर के लिए ठहर जाओ। तुम्हें नीच पुरुषों के मार्ग पर नहीं चलना चाहिए। तुम्हारे लिए तो श्रेष्ठ आचरण ही उचित है। जिसके सिर के बाल बिखर गए हैं, जो पीठ दिखाकर भागा जाता हो, ब्राह्मण हो, हाथ जोड़ रहा हो, शरण में आया हो और प्राण-रक्षा के लिए प्रार्थना कर रहा हो, जिसने अपने हथियार रख दिये हों, जिसके पास बाण न हो, जिसका कवच कट गया हो, अस्त्र-शस्त्र गिर गये या टूट गये हों, ऐसे योद्धा पर उत्तम व्रत का आचरण करनेवाले शूर-वीर शस्त्र नहीं चलाते। तुम भी संसार के बहुत बड़े वीर और सदाचारी हो। युद्ध-धर्म जानते हो। तुमने वेदान्तपदों के गहन ज्ञान में डुबकी लगाई है। तुम दिव्यास्त्रों के ज्ञाता और उदार हृदयवाले हो।

युद्ध में कार्तवीर्य को भी मात करते हो। जब तक मैं इस फँसे हुए चक्के को ऊपर उठा न लूँ, तब तक रुक जाओ। तुम रथ पर हो और मैं जमीन पर। साथ ही मैं बहुत घबराया हुआ हूँ; इसलिए मेरे ऊपर प्रहार करना उचित नहीं है।'

श्रीकृष्ण उस मौके पर कर्ण का तिरस्कार करते हैं और अर्जुन की ओर से वे ही उत्तर देते हैं—'सौभाग्य की बात है कि इस समय तुम्हें धर्म की याद आ रही है। प्रायः ऐसा देखने में आता है कि नीच मनुष्य विपत्ति में फँसने पर धर्म (प्रारब्ध) की ही निन्दा करते हैं, अपने किए हुए कुकर्मों की नहीं।' फिर वे कर्ण द्वारा अधर्म को दिये गये प्रश्रय के मौकों की एक-एक कर उसे याद दिलाते हैं। उस समय कर्ण भी लज्जा से अपना सिर झुका लेता है। उससे कोई जवाब देते नहीं बनता। अपने किए अधर्म से ही वह अधिक भयभीत होने लगता है। उसी समय श्रीकृष्ण अर्जुन से उसे दिव्यास्त्र से घायल कर मार गिराने के लिए कहते हैं। कर्ण ने पहले बहुत बार अधर्म का आश्रय लिया था। इसलिए विकट परिस्थिति में पड़े रहने पर उसे मार डालना, तत्कालीन 'जैसे को तैसी' नीति के अनुसार, महाभारतकार की दृष्टि में भी अन्याय-कार्य नहीं जँचता।

पर यह 'जैसे को तैसी' नीति भी अनायास ही अपनाई नहीं जा सकती थी। कौरव-पक्ष की हार हो जाने पर अश्वत्थामा को पाण्डवों द्वारा किये गये अन्यायाचरण याद आते हैं। अपने पिता की मौत उसे अधर्मपूर्वक की गई जँचती है। वह रात्रि के समय एक उल्लू का कपटपूर्ण व्यवहार देख विचार करता है—'इस पक्षी ने अवश्य ही मुझे संग्राम करने की युक्ति का उपदेश दिया है। इस समय अपनी शक्ति से मैं पांडवों को नहीं मार सकता। अब यदि मैं न्यायानुसार युद्ध

करूँगा, तो निःसन्देह मुझे अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ेगा। हाँ, कपट से अवश्य सफलता हो सकती है और शत्रुओं का भी सब संहार हो सकता है। पांडवों ने भी तो पद-पद पर अनेक निन्दनीय और कुत्सित कर्म किए हैं। युद्ध के अनुभवी लोगों का ऐसा कथन भी है कि जो सेना आधी रात के समय नींद में बेहोश हो, जिसका नायक नष्ट हो चुका हो, जिसके योद्धा छिन्न-भिन्न हो गये हों और जिसमें मतभेद पैदा हो गया हो, उसपर भी शत्रु को प्रहार करना चाहिये।' इस प्रकार विचारकर अश्वत्थामा ने रात्रि के समय सोये हुए पांडव और पांचाल वीरों को नष्ट करने का निश्चय किया। फिर उसने कृपाचार्य और कृतवर्मा को जगाकर अपना निश्चय सुनाया। वे दोनों वीर अश्वत्थामा की बात सुनकर बड़े लज्जित हुए। कृपाचार्य उसे समझाते हुए कहते हैं—'मूर्ख योद्धा बहुत समय तक पंडितों की सेवा में रहने पर भी धर्म का रहस्य नहीं जान सकता। तब जिस प्रकार विक्षिप्तचित्त पुरुष को भला-बुरा कहकर काबू में किया जाता है, उसी प्रकार सुहृद्गण भी समझा-बुझाकर और डाँट-डपटकर उसे वश में कर सकते हैं ; नहीं तो वह वश में नहीं आ सकता और उसे दुख ही उठना पड़ता है। तात ! तुम भी मन को काबू में करके उसे कल्याण-साधन में लगाओ और मेरी बात मानो, जिससे तुम्हें पश्चात्ताप न करना पड़े। जो सोये हुए हों, जिन्होंने शस्त्र रख दिये हों, रथ और घोड़े खोल दिए हों, जो 'मैं आपका ही हूँ' ऐसा कह रहे हों, जो शरणागत हों, जिनके बाल खुले हुए हों और जिनके वाहन नष्ट हो गए हों, लोक में उन लोगों का वध करना धर्मतः अच्छा नहीं समझा जाता। इस समय रात्रि में सब पांचाल-वीर निश्चिन्तता-पूर्वक कवच उतारकर निद्रा में अचेत पड़े होंगे। जो पुरुष उनसे इस स्थिति में द्रोह करेगा, वह अवश्य ही बिना नौका के अगाध नरक में

डूब जायगा। लोक में तुम सहस्र शस्त्रधारियों में श्रेष्ठ कहे जाते हो। अभी तक संसार में तुम्हारा कोई छोटे से छोटा दोष भी देखने में नहीं आया। तुम सूर्य के समान तेजस्वी हो। अतः कल जब सूर्य उदित हो तो सब प्राणियों के सामने अपने शत्रुओं को संग्राम में परास्त करना।' अश्वत्थामा भी कम-से-कम विचार में कृपाचार्य की युक्ति को ठीक तथा धर्ममर्यादानुकूल स्वीकार करने से अपने को नहीं रोक सका।

धर्म-मर्यादा-सम्बन्धी तर्क-वितर्क के वर्णन भी यही प्रमाणित करते हैं कि भारत-युद्ध के किसी भी योद्धा की अधर्म-युद्ध की तरफ स्वाभाविक प्रवृत्ति नहीं थी। विक्षिप्तचित्त अथवा विपक्षी से उसके अधर्म-प्रेरित कार्यों का बदला लेने की भावना से जो कार्य हुए हैं, उनकी संख्या बहुत ही कम है। वैसे कार्य के मौकों पर भी मानवीय विचारधारा की प्रेरणाओं तथा स्रोत से उन योद्धाओं के विचार यथासंभव अलग नहीं होना चाहते थे। धर्म की ओर की यह स्वाभाविक अभिरुचि महाभारतकालीन चरित्रों को महानता प्रदान करती है और साथ ही उन्हें हिमालय के शिखरों पर के उस धवल तुषार-सा उज्ज्वल तथा चमकीला बना देती है जिसपर साधारण मानव की दृष्टि नहीं टिक पाती।

मन में मोह हो गया है। मैं यह नहीं जानता कि मेरे लिए युद्ध करना और न करना इन दोनों में कौन श्रेष्ठ है? इसलिये तुमसे पूछता हूँ, तुम्ही बतलाओ, मै तुम्हारा शिष्य हूँ।' शस्त्र तो उसने पहले ही रख दिये थे, अब उसने कहा—'मै न लड़ूँगा।'

कृष्ण जान गये कि अर्जुन मोह के चंगुल में फँस गया है। उसे उससे निकालने तथा कर्त्तव्य-ज्ञान कराने के लिए उन्होंने इसी अवसर पर उसे गीता का उपदेश दिया। वह गीता ही वास्तव में समूचे महाभारत ग्रंथ का 'मर्मस्थल' है। उसकी धकधकी में ही हमें आर्यजाति के हृदय की तत्काल धड़कन तथा उसकी दार्शनिक अनुकंपा सुनाई दे जाती है। उसे पहचान लेने पर हमें आर्य-जीवन के सब लक्षणों के ज्ञान के साथ-साथ उसके वास्तविक हार्दिक स्वरूप से भी परिचय हो जाता है। संभव है, इसीलिये हमारे शास्त्र गीता के अध्ययन करने का आदेश देते समय कहते हैं—'शास्त्र-विस्तार से लाभ क्या? 'गीता' को ही 'सुगीता' करना चाहिये।'

गीता में अर्जुन को कर्त्तव्य-ज्ञान करानेवाले हैं उस युग के परम मेधावी विद्वान् तथा कर्त्तव्य-परायण पुरुष कृष्ण। उनकी वाणी बड़ी सुबोध तथा सरल है। यह गीता दलबंदी के दलदल से कोसों दूर है। अध्यात्म-तत्त्व के निरूपणार्थ जितने भिन्न-भिन्न मतों की उद्भावना उस समय तक हो चुकी थी, उन सबका उपयोग कर गीता एक परम रमणीय साधन-मार्ग की व्यवस्था करती है, जो भिन्न भिन्न आध्यात्मिक प्रवृत्तिवाले प्राणियों के लिए भी नितान्त सुखकर है। इसीलिये केवल सात सौ श्लोकों की लघुकाय गीता की उपमा कामधेनु तथा कल्पवृक्ष से दी गई है। गीता के महत्त्व का कारण है उसकी समन्वय दृष्टि। गीता के समय में मानव-जीवन के लक्ष्य के विषय में अनेक सिद्धान्तों का प्रचार था। आत्मा

की अपरोक्षानुभूति का प्रतिपादक था उपनिषद्; प्रकृति पुरुष की विवेकख्याति से मोक्षलाभ का उपदेशक था सांख्य; समाज तथा धर्म के द्वारा प्रतिष्ठित विधिविधानों के अनुष्ठान से परम-सुखभूत स्वर्ग की शिक्षा देने वाली थी कर्म-मीमांसा; अष्टांगसाधन के द्वारा प्रकृति के बंधन से जीव को निर्मुक्त कर कैवल्य का प्रतिपादक था योग तथा रागात्मिका भक्ति के द्वारा अखिल कर्मों का परमात्मा में समर्पण सिद्धांत को बतलानेवाला था पांचरात्र। इन समस्त दार्शनिक तत्त्वों का जैसा मनोरम सामंजस्य गीता में प्रदर्शित किया गया है वह परम रमणीय है, नितांत उपादेय है। प्रांजल तथा सुबोध भाषा में यह आध्यात्मिक समन्वय उपस्थित करने के कारण गीता का इतना गौरव है।'[1]

उपदेश के आरंभ में ही कृष्ण अर्जुन के मन को ढक रखनेवाला संहार-संबंधी मोह-आवरण हटाने की चेष्टा करते हैं। अर्जुन अपनी दलील की पुष्टि कर्म-संन्यास की बातों द्वारा करने लगा था और अपना व्यवहार ज्ञानियों के जैसा मानता था।

उसके इस अज्ञान पर थोड़ा हँसकर कृष्ण उसे वास्तविकता का ज्ञान कराने लगे। ज्ञानी पुरुषों के आचरण के दो रास्ते—'कर्म करना' और 'कर्म छोड़ना' दीख पड़ते हैं। कृष्ण की युक्ति के अनुसार अर्जुन उन दोनों रास्तों में किसी को भी ले गलती कर रहा था, उसका वास्तविक कर्त्तव्य युद्ध करना ही था। इस युक्ति की व्याख्या के सिलसिले में उपदेश आरंभ करते समय ही कृष्ण को 'सांख्यमार्ग' और 'कर्मयोग' दोनों का ही प्रतिपादन गीता के दूसरे अध्याय में ही करना पड़ा। यहाँ पर 'चित्त-शुद्धता के लिए स्वधर्मानुसार वर्णाश्रम-विहित कर्म कर के ज्ञान-प्राप्ति होने पर मोक्ष के लिए अंत में सब कर्मों को छोड़ संन्यास लेना सांख्यमार्ग है; और कर्मों का कभी त्याग न कर अंत

[1] बलदेव उपाध्याय : भारतीय दर्शन, पृ० ६७-६८।

कर्मयोग का रहस्य बतलाते समय कृष्ण ने अर्जुन को सलाह दी है—'तू वैदिक कर्मों के काम्य झगड़े छोड़ दे और निष्काम बुद्धि से कर्म करना सीख ; तेरा अधिकार केवल कर्म करने भर का ही है—कर्म के फल की प्राप्ति अथवा अप्राप्ति तेरे अधिकार की बात नहीं है। ईश्वर को ही फलदाता मान कर जब इस समबुद्धि से—कि कर्म का फल मिले या न मिले दोनों समान हैं—केवल स्वकर्तव्य समझकर ही कुछ काम किया जाता है, तब उस कर्म के पाप-पुण्य का लेप कर्ता को नहीं होता ; इसलिए तू यह समबुद्धि अपना। इस समबुद्धि को ही योग—अर्थात् पाप के भागी न होते हुए कर्म करने की युक्ति—कहते हैं। यदि तुझे यह योग सिद्ध हो जाए तो कर्म करने पर भी तुझे मोक्ष की प्राप्ति होगी ; मोक्ष के लिए कुछ कर्म-संन्यास की आवश्यकता नहीं है।' [१]

गीता की भाषा में वह समबुद्धि वाला मनुष्य ही 'स्थित-प्रज्ञ' है। दूसरे अध्याय के अंत में उसी का वर्णन किया गया है, और अंत में कहा गया है कि स्थितप्रज्ञ की स्थिति को ही ब्राह्मी-स्थिति कहते हैं। पर इसी समय अर्जुन के मन में शंका होती है—'यदि कर्मयोग-मार्ग में भी कर्म की अपेक्षा बुद्धि ही श्रेष्ठ मानी जाती है तो मैं अभी स्थितप्रज्ञ की नाईं अपनी बुद्धि सम किए लेता हूँ, फिर युद्ध क्यों करूँ?' कृष्ण का उत्तर होता है—'किसी मनुष्य के कर्मों का सर्वथा छूट जाना असंभव है। जब तक वह देहधारी है, तब तक प्रकृति स्वभावतः उससे कर्म करावेगी ही—और जब कि प्रकृति के ये कर्म छूटते ही नहीं हैं, तब तो इन्द्रिय-निग्रह के द्वारा बुद्धि को स्थिर और सम करके केवल कर्मेन्द्रियों से ही अपने सब

१. गीतारहस्य, पृ० ४४७-४८

कर्तव्य कर्मों को करते रहना अधिक श्रेयस्कर है। इसलिए तू कर्म कर, यदि कर्म नहीं करेगा तो तुझे खाने तक को न मिलेगा। × × सारांश, स्थितप्रज्ञ की नाईं बुद्धि की समता हो जाने पर भी कर्म से किसी का छुटकारा नहीं, अतएव यदि स्वार्थ के लिए न हो तो भी लोकसंग्रह के लिए निष्काम बुद्धि से कर्म करते ही रहना चाहिए।'[1]

इन युक्तियों के आधार पर ही गीता के अठारहवें अध्याय में सिद्धांत बतलाया गया है—'निस्संग बुद्धि से, फलाशा छोड़कर, केवल कर्तव्य समझकर कर्म करना ही सच्चा 'सात्विक' कर्मत्याग है।' कर्म छोड़ना सच्चा कर्मत्याग नहीं है। इसी आधार पर कृष्ण ने अर्जुन को स्पष्ट शब्दों में आज्ञा दी—'तू युद्ध कर।'

गीता के अन्त में कृष्ण ने अर्जुन से प्रश्न किया—'तेरा अज्ञान मोह अभी तक नष्ट हुआ कि नहीं?' अर्जुन ने संतोषजनक उत्तर दिया—'स्वकर्तव्य-संबंधी मेरा मोह और संदेह नष्ट हो गया है, अब मैं आपके कथनानुसार सब काम करूँगा।' इसके बाद ही उसने अस्त्र हाथ में लिये। वह युद्ध करने लगा।

इस प्रकार, गीता ने केवल एक अर्जुन का ही मोह नष्ट कर उसे अपने अस्त्र ले युद्ध करने के लिये प्रेरित नहीं किया है, उसने सारे प्रयत्नशील विचारवान मानव-समाज का चिरकाल के लिये मोह नष्ट कर दिया है। अर्जुन तो गीता के महान् उपदेश का निमित्त मात्र बना था। पंडितों का इस विषय में जो मोह हो जाया करता था कि कर्म कौन सा है और अकर्म कौन-सा है—उस मोह को गीता के उपदेश ने सदा के लिये नष्ट कर दिया है। उसने मालूम नहीं कितने व्यक्ति तथा जातियों को संघर्ष तथा संग्राम करते चलने की प्रेरणा दी

[1]. गीता रहस्य॰ पृ॰ ४४६

है, उन्हें अस्त्र हाथ में ले लेने के लिये बाध्य किया है और जीवन-संग्राम के साथ-साथ वास्तविक युद्ध-क्षेत्र में ला खड़ा किया है।

गीता की शिक्षा हमें जीवन की वास्तविकता की याद दिलाती है। उसका प्रधान उद्देश्य व्यावहारिक शिक्षा प्रदान करना ही है। *'गुणों में ही गुणों की उत्पत्ति होती है और उन्हीं में उनका लय हो जाता है'*— जैसे उपदेशों द्वारा वह हमारे भीतर दृढ़ विश्वास के साथ-साथ अभूतपूर्व कार्यक्षमता तथा प्रेरणा भर देती है। गीता के कोष में द्विधा का स्थान नहीं है। उसकी शिक्षा अस्त्र टाल देना नहीं जानती। और इसीलिए वह हार तथा मृत्यु से भी अपरिचित है।

उस शिक्षा को जब हम कार्यकरी होता देखते हैं तो हमें दिखाई दे जाता है—*'मृत्यु में भी छिपा रहनेवाला अंतहीन प्राण।'* तब हम संहार में ही देखते हैं पुनरुज्जीवन का बीज।

हमारे जीवन से संबंध रखनेवाली इस महान वास्तविकता का साक्षात् दर्शन कराने के ही कारण 'गीता-दर्शन' आज भी हमारे लिये उसी प्रकार उपयोगी तथा उपादेय है जैसी वह महाभारत-काल में थी।

मनुष्य का जीवन जिन नियमों से संचालित होता है, किसी देश या जाति के जीवन को भी वे ही नियम संचालित करते रहते हैं। मनुष्य के जीवन में ही मृत्यु के और मृत्यु में ही जीवन के बीज जिस भाँति कार्य करते रहते हैं उसी भाँति एक देश या जाति के जीवन में भी संहार और पुनरुज्जीवन का नियम लागू होता रहता है। इसे ही हम 'जीवन-धर्म' कह सकते हैं।

इस शाश्वत नियम या धर्म के साक्षात्कार के बाद ही मनुष्य को अपने कर्तव्य का ज्ञान होता है। तभी वह उस धर्म में भी अपना स्थान, अपने मनुष्योचित कर्तव्य की जानकारी प्राप्त करता है; और

उसी ज्ञान की बदौलत उसकी प्राण और प्रेरणाशक्ति 'मृत्यु' पर विजय प्राप्त कर लेने में समर्थ हो पाती है। उसी समय उसका मनुष्य-जीवन भी सार्थक बनता और पूर्णता प्राप्त करता है।

'गीता-दर्शन' ने ही आर्य-जाति को उपर्युक्त 'धर्म' का ज्ञान कराया है, उस जाति का जीवन सार्थक बनाया है और उसमें वैसी प्राणशक्ति लाकर भर दी है कि गहरे से गहरे संकट के अवसर पर, प्राणों के अवरुद्ध होने लगने के मौकों पर भी उसके कार्य वीरों की तरह—सच्चे मानव के ढंग पर ही होते हैं। गीता-दर्शन से अनुप्राणित रहने के कारण ही शरीर में सब ओर बाण बिंधे रहने पर, उससे भी अधिक—बाणों के ही सहारे टँगे धरती पर गिरते-गिरते भी आर्य-जाति अपने सुयोग्य पुत्र भीष्म की तरह मृत्यु से कहती है—

'दूर रह! मैं अभी जीवित हूँ।'

कर्मयोग

गीता में हमें आरंभ से अंत तक जीवन को प्यार करने की दृष्टि ही दिखलाई देती है। यह दृष्टि अवश्य ही उस काल की है जब हमारा देश ज्ञान, वैभव, यश और पूर्ण स्वराज्य के सुख का अनुभव कर रहा था। उस जीवन में दीन भाव को वास्तव में ही तिलांजलि दे दी गई थी। सिर्फ गीता में ही क्यों, सारे महाभारत में अपने को 'दीन' स्वीकार कर लेनेवाले चरित्र का नितांत अभाव है। उसके सब ऐतिहासिक चरित्र हमें मनुष्यता का अभिमान रखते दिखलाई देते हैं।

इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि उस काल में विपत्ति थी ही नहीं। ठीक विपरीत—हम प्रत्येक चरित्र को ही भयानक तूफान के बीच से गुजरता देखते हैं। उनके जीवन में पग-पग पर विपत्ति आती है, असफलताएँ बारबार व्यक्तियों की चेष्टाएँ तथा उनके ऐहिक अरमान चकनाचूर कर देती हैं, पर फिर भी वे चरित्र हार नहीं मानते। उनके साहस तथा धैर्य में प्रदर्शित होनेवाली शक्ति अद्भुत तेज रखती है। विकट-से-विकट परिस्थिति में भी वे

सीना ताने और अपना अस्त्र लिए खड़े दीखते हैं। अपनी आत्मा को कोसने वा उसका किसी भी रूप में हनन करने के विचार तक से वे अपरिचित हैं। महाभारतकालीन आर्यों के ये सब लक्षण उनके जीवन के प्रति अटूट प्रेम प्रदर्शित करते हैं। इस काल में उनका सिद्धान्त ही रहता है—'जो सब बाधाओं और विपत्तियों का सामना करता चलता है, वही है वीर, वही है निर्भीक'।

जीवन के प्रति उस प्रेम की परीक्षा भी होती रही है। इस परीक्षा से संबंध रखते उदाहरणों से पूरा महाभारत भरा पड़ा है। शांतिपर्व में स्वयं विश्वामित्र के ही जीवन की एक घटना का उल्लेख किया गया है। उनके जीवन-काल में किसी समय बारह वर्ष तक दुर्भिक्ष रहा। उस समय विश्वामित्र पर भी बहुत बड़ी विपत्ति आई। क्षुधा से उनके प्राण निकलने-निकलने हो रहे थे। उस समय उन्होंने किसी चांडाल के घर से कुत्ते का मांस चुराया और उस अभक्ष्य-भोजन से अपनी जीवन-रक्षा करने के लिए तैयार हुए। पर वे पकड़े गए। चांडाल उन्हें अभक्ष्य-भक्षण तथा चोरी न करने के संबंध में उपदेश देने लगा। साधारण कोटि के मनुष्य वैसे मौकों पर लज्जा से सिर झुका दीनता स्वीकार कर आत्मग्लानि में डूब जा सकते हैं। पर विश्वामित्र के मन में उस लज्जा, दीनता अथवा आत्मग्लानि की छाया भी नहीं थी। उन्होंने चांडाल को डाँटते हुए कहा—'अरे! मेढ़कों के टर्र-टर्र करने पर भी गौएँ पानी पीना बंद नहीं करतीं। मुझे धर्मज्ञान बताने का तेरा अधिकार नहीं है। तू व्यर्थ अपनी प्रशंसा मत कर।' उसी समय विश्वामित्र ने स्पष्ट शब्दों में कहा—'मरने से जिन्दा रहना श्रेयस्कर है, जीवित रहने पर ही धर्म का आचरण कर सकेंगे।' उनके इस तत्त्व में ही उनके जीवन के प्रति प्रेम की झलक मिलती है।

वे आर्य मृत्यु को किसी भी हालत में स्वीकार नहीं कर सकते थे। आर्य क्या, विचारधारा में अल्पविकसित उस काल के 'दैत्य और दानव' तक भी यही विचार रखते थे। दुर्योधन को समझाते समय उनका भी कथन था—'जो पुरुष आत्महत्या करता है वह तो अधोगति को प्राप्त होता है और लोक में भी उसकी निन्दा होती है। आपका यह विचार तो धर्म, अर्थ और सुख का नाश करने-वाला है। इसे आप छोड़ दीजिए।'

पर अब प्रश्न उठता है—वह जीवन ही कैसा हो ? किस प्रकार के आचरण द्वारा मनुष्य-जीवन सार्थक बनाया जा सकता है ?

इस संबंध में आर्य-विचारधारा निश्चित पथ दिखलाती है। उसके मतानुसार मनुष्यों के लिए यह गर्व की बात है कि उन्हें नरदेह प्राप्त हुई है। तब, उनके लिए 'मनुष्योचित' कर्म करना भी लाजमी है। पर फिर मनुष्योचित कर्म ही कौन-से हैं ? इस संबंध में गीता-शास्त्र का व्यापक सिद्धांत है—'प्रचलित समाज-व्यवस्था के अनुसार समाज के धारण-पोषण के जो काम अपने हिस्से में आ पड़ें, उन्हें लोकसंग्रह के लिए धैर्य और उत्साह से तथा निष्काम बुद्धि से कर्तव्य समझकर करते रहना चाहिए, क्योंकि मनुष्य का जन्म उसी काम के लिए हुआ है, न कि केवल सुखोपभोग के लिए। × × संसार दुखमय हो या सुखमय, सांसारिक कर्म जब छूटते ही नहीं तब उनके सुख-दुख का विचार करते रहने से कुछ लाभ नहीं होगा। चाहे सुख हो या दुख, मनुष्य का यही कर्तव्य है कि कर्मसृष्टि के इस अपरिहार्य व्यवहार में जो कुछ प्रसंगानुसार प्राप्त हो उसे अपने अंतःकरण को निराश न करके इस न्याय अर्थात् साम्यबुद्धि से सहता रहे कि—'दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः' (दुख में खेद नहीं और सुख में आसक्ति नहीं) एवं अपने

अधिकारानुसार जो कुछ कर्म शास्त्रतः अपने हिस्से में आ पड़े उसे जीवन-पर्यन्त (किसी के लिए नहीं, किन्तु संसार के धारण-पोषण के लिए) निष्काम-बुद्धि से करता रहे।'[1]

गीता की इस दृष्टि में उसके निर्भय और व्यापक होने का परिचय मिलता है। वह धर्म, वर्ण, जाति, देश या अन्य विभेदों से अलग है। वास्तव में भी 'गीता का मुख्य उपदेश यह बतलाना नहीं है कि समाज-धारण के लिए कैसी व्यवस्था होनी चाहिए। गीता-शास्त्र का तात्पर्य यही है कि समाज-व्यवस्था चाहे कैसी हो, उसमें जो यथाधिकार कर्म तुम्हारे हिस्से में पड़ जाएँ उन्हें उत्साह-पूर्वक करके सर्वभूत-हित-रूपी आत्मश्रेय की सिद्धि करो। इस तरह से कर्तव्य मान कर गीता में वर्णित स्थितप्रज्ञ पुरुष जो कर्म किया करते हैं वे स्वभाव से ही लोक-कल्याणकारक हुआ करते हैं।'[2]

गीता के बतलाए मार्ग के अनुसार मानव-जीवन का आदर्श—सफल जीवन परखने को कुंजी वह स्थितप्रज्ञ की अवस्था ही है। उपनिषदों की भाषा में स्थितप्रज्ञ ही जीवन्मुक्त कहे जाते हैं। गीता में अर्जुन ने कृष्ण से प्रश्न किया है—'हे केशव! समाधिस्थ स्थितप्रज्ञ किसे कहें? उस स्थितप्रज्ञ का बोलना, बैठना और चलना कैसा रहता है?' तब कृष्ण ने स्थितप्रज्ञ की विशेषताएँ बतलाते हुए कहा है—'हे पार्थ! जब कोई मनुष्य अपने मन के समस्त काम अर्थात् वासनाओं को छोड़ता है और अपने आप में ही संतुष्ट हो कर रहता है, तब उसे स्थितप्रज्ञ कहते हैं। दुख में जिसके मन को

---

[1] गीतारहस्य, सप्तम मुद्रण—१९३३ ई०, पृ० ४६४-६६.

[2] गीतारहस्य, पृ० ४६६.

खेद नहीं होता, सुख में जिसकी आसक्ति नहीं, और प्रीति, भय एवं क्रोध जिसके छूट गए हैं उसको स्थितप्रज्ञ मुनि कहते हैं। सब बातों में जिसका मन निःसंग हो गया और यथाप्राप्त शुभ-अशुभ का जिसे आनंद या विषाद भी नहीं, कहना चाहिए कि, उसकी बुद्धि स्थिर हुई। जिस प्रकार कछुआ अपने अवयव सब ओर से सिकोड़ लेता है, उसी प्रकार जब कोई पुरुष इन्द्रियों के विषयों से अपनी इन्द्रियों को खींच लेता है, तब कहना चाहिए कि उसकी बुद्धि स्थिर हुई। × ×अपनी आत्मा अर्थात् अंतःकरण जिसके काबू में है, वह पुरुष प्रीति और द्वेष से छूटी हुई अपनी स्वाधीन इन्द्रियों से विषयों में बर्ताव करके भी चित्त से प्रसन्न रहता है। चित्त प्रसन्न रहने से उसके सब दुखों का नाश होता है, क्योंकि जिसका चित्त प्रसन्न है उसकी बुद्धि भी तत्काल स्थिर होती है। जो पुरुष उक्त रीति से युक्त अर्थात् योगयुक्त नहीं हुआ है उसमें स्थिर बुद्धि और भावना अर्थात् दृढ़बुद्धि-रूप निष्ठा भी नहीं रहती। जिसमें भावना नहीं उसे शांति नहीं और जिसे शांति नहीं उसे सुख मिलेगा कहाँ से! विषयों में संचार अर्थात् व्यवहार करनेवाली इन्द्रियों के पीछे-पीछे मन जो जाने लगता है, वही पुरुष की बुद्धि को ऐसे हरण किया करता है जैसे पानी में नौका को हवा खींचती है। अतएव हे महाबाहु अर्जुन! इन्द्रियों के विषयों से जिसकी इंद्रियाँ चहुँओर से हटी हुई हों, कहना चाहिए कि उसी की बुद्धि स्थिर हुई। चारों ओर से पानी भरते जाने पर भी जिसकी मर्यादा नहीं डिगती ऐसे समुद्र में जिस प्रकार सब पानी चला जाता है, उसी प्रकार जिस पुरुष में समस्त विषय उसकी शांति भंग हुए बिना ही प्रवेश करते हैं उसे ही सच्ची शांति मिलती है। विषयों की इच्छा करनेवाले को यह शांति नहीं मिलती। जो पुरुष सब काम

अर्थात् आसक्ति छोड़कर और निःस्पृह होकर व्यवहार में बर्तता है, एवं जिसे ममत्व और अहंकार नहीं होता, उसे ही शांति मिलती है। हे पार्थ! ब्राह्मी स्थिति यही है। इसे पा जाने पर कोई भी मोह में नहीं फँसता; और अंतकाल में, मरने के समय में भी, इस स्थिति में रहकर ब्रह्म-निर्वाण अर्थात् ब्रह्म में मिल जाने के स्वरूप का मोक्ष पाता है।'

सुख, आनन्द तथा मोक्ष का यह पंथ वास्तव में अद्वितीय है। इसमें साम्यबुद्धि से अपना कर्त्तव्य करते जाना ही वास्तविक 'मानव' के लक्षण बतलाए गए हैं। इसे ही उपनिषदों में आत्मा की साक्षात् उपलब्धि प्राप्त करना, स्वराज्य-प्राप्ति कर लेना आदि कहा गया है। आत्मवेत्ता अपनी आत्मा से प्रेम करता है, (आत्मरतिः); अपनी आत्मा से क्रीड़ा करता है (आत्मक्रीड़ः), अपनी आत्मा के संग का अनुभव करता है (आत्म मिथुनः) तथा अपनी आत्मा में निरतिशय आनन्द प्राप्त करता है (आत्मानन्दः)। वह अपने आनंदमय रूप में विहार करता है।'[1] इस आत्मा की उपलब्धि में ही मनुष्य-जीवन की सार्थकता बतलाई गई है। उस आनन्द का वास्तविक अनुभव तो उपनिषदों के ज्ञानी या गीता के स्थितप्रज्ञ ही करते होंगे; पर हम कुरुक्षेत्र के मैदान में भी उसी आनंद का, गीतामृत के रूप में कृष्ण द्वारा, छिड़काव किया जाता देखते हैं। योद्धाओं के सामने उस समय जो आदर्श थे उनकी प्राप्ति के लिए गीता ने ही 'कर्मयोग' का अस्त्र उन्हें प्रदान किया था। यदि वास्तविकता की दृष्टि से देखा जाए तो भारतयुद्ध की विजय में 'कर्मयोग' का हाथ गांडीव से भी अधिक

[1] बलदेव उपाध्याय-लिखित 'भारतीय दर्शन' के उद्धरण से, पृ० ८६

रहा है। बिना कर्मयोग की सहायता के गांडीव उठाया ही नहीं जा सकता था। अर्जुन का कार्य समाप्त हो जाने पर गाडीव आखिर लुप्त भी हो गया, पर कर्मयोग का आज भी आश्रय लिया जा सकता है। उसी के बल पर और भी कितने कुरुक्षेत्रों में भयानक से भयानक- लड़ाइयों में विजय प्राप्त की जा सकती है। यह अस्त्र आज भी नरदेहधारियों को वास्तविक मनुष्य बना उनका जीवन सार्थक बना दे सकता है। कर्मयोग का काम ही है मनुष्य-शरीर में वास्तविक मनुष्यता की प्रतिष्ठा करना। किसी भी व्यक्ति, जाति वा देश के जीवन, उत्कर्ष तथा आनन्द के लिए इस प्रकार के प्रतिष्ठा-संबंधी निर्माण से बढ़कर और कोई दूसरा निर्माण नहीं हो सकता। हमारे आर्यावर्त्त के निर्माण में—यहाँ के निवासियों के वास्तविक 'मनुष्यत्व' की गढ़न तथा निर्माण में सबसे बड़ा हाथ गीता द्वारा प्रदान किए गये 'कर्मयोग' अस्त्र का ही है। उसी मंत्र की बदौलत हमारे देश का इतिहास इतना उज्ज्वल बन पाया है।

एक समय था जब आर्यजाति इस कर्मयोग के अस्त्र से ही अपने को सुसज्जित रखा करती थी, इसीलिए जिस परिस्थिति के चपेटे में उन्हें पड़ना पड़ता था वह चाहे जितना भी जटिल और विकराल रूप धारण करती जाती थी, आर्यवीरों के चेहरे पर नाम-मात्र के लिए भी कभी शिकन नहीं पड़ने पाती थी।

तूफान के समय भीषण गर्जना कर उमड़ती आनेवाली लहरों का जिस मुसकान की भंगिमा से अपने जहाज की दृढ़ता में विश्वास रखनेवाला नाविक स्वागत करता है, महाभारतकालीन आर्य वीर भी उसी भाँति कर्मयोग की वास्तविक शक्ति में अचल विश्वास रखने के कारण भयानक से भयानक संग्राम तथा संघर्ष की लहरों का शांत, प्रसन्न मुद्रा में ही आह्वान किया करते थे। कर्मयोग-सिद्धि के

कारण ही हम उन आदमियों के हृदय को एक ओर 'फूलों से भी कोमल और दूसरी ओर वज्र की अपेक्षा भी अधिक कठोर' बन गया एक ही दृष्टि में देखते हैं। विपरीत परिस्थिति और विपक्षी, आर्यों पर जितने ही अधिक आँखें लाल-लाल करते और उनसे कहते हैं— 'शस्त्र रख दो! दीनता स्वीकार करो! हार मान लो!'—वे वीर उतनी ही दृढ़ता के साथ संग्रामक्षेत्र में अपने पाँव स्थिर बनाये रखते हैं। उन्हें उस समय सुनाई देता है गीता में कृष्ण द्वारा दिया गया आदेश—'युद्ध करो।' उस आदेश-ध्वनि के बल पर ही वे योद्धा अपने विपक्षियों को उत्तर देते हैं—'तुम भले ही रखो, हम अपना अस्त्र हरगिज नहीं रखते। हम युद्ध करते ही रहेंगे।'

और तब, उसी 'कर्मयोग' द्वारा प्रदान किये गये साहस, धैर्य, दृढ़ता और अध्यवसाय के बल पर विपरीत परिस्थिति से लेकर प्रलयकारी संग्राम तक सब जगह अंतिम विजय उन महान् आर्य वीरों की ही होती है।

कृष्ण का ऐतिहासिक चरित्र

श्रीमद्भागवत के आरंभ में ही यह कथा दी गयी है कि अनेक शास्त्र-पुराण और महाभारत की रचना से भी व्यासदेव का चित्त तृप्त नहीं हुआ। सब छोड़कर प्राणियों के कल्याण में प्रवृत्त होने पर भी उनका चित्त प्रसन्न नहीं हुआ तब वे सरस्वती के तट पर एकांत में बैठ सोचने लगे—'दृढ़व्रत होकर मैंने वेद पढ़े, नियमित अग्नि-होम किया, गुरु की सेवा की और निष्कपट हो श्रद्धा के साथ उनकी आज्ञा का पालन किया। भारत की रचना कर उस इतिहास में मैंने वेदों का सारा सारांश रख दिया। वेद के पढ़ने-सुनने का अधिकार न रखनेवाले स्त्री, शूद्र आदि भी उसे पढ़कर अपना धर्म जान सकते हैं। तो भी मेरी यह आत्मा, जो ब्रह्म का अंश है, अपने रूप (आनन्द या संतोष) को अप्राप्त-सी जान पड़ती है। इसका क्या कारण है? क्या मैंने इतिहास और पुराणों में भागवत धर्म (भक्ति) का निरूपण भली भाँति अधिक मात्रा में नहीं किया? भागवत धर्म ही परमहंसों को प्यारा है और ये परमहंस श्री भगवान् को प्यारे हैं।'

इसी समय व्यासजी को देवर्षि नारद के दर्शन हुए। नारदजी ने सलाह दी—'हे बहुश्रुत व्यासजी, तुम भी श्रीभगवान का प्रसिद्ध यश-वर्णन करो, जिसके जानने से बुद्धिमान पुरुषों की जानने की इच्छा शांत हो जाती है, अर्थात् वे सब कुछ जान जाते हैं, उन्हें जानने के लिये कुछ बाकी नहीं रहता। संसार के घोर दुखों से बारम्बार जिनकी आत्मा पीड़ित हो रही है, उनका वह क्लेश इसी उपाय से शात हो सकता है, और किसी प्रकार से नहीं।'

तब 'भक्ति-मार्ग से अनभिज्ञ लोगों की भलाई के लिये विद्वान् व्यासजी ने भागवत-संहिता की रचना की जिसके श्रवण से परम पुरुष भगवान श्रीकृष्ण में भक्ति उत्पन्न होती है।' वास्तव में ही श्रीमद्भागवत हमारे भारतीय साहित्य का एक अनुपम रत्न है। इसके श्लोकों के अलौकिक माधुर्य की तुलना और किसी से नहीं की जा सकती। इसका कवित्व बहुत ही ऊँचे दर्जे का है। भाव तथा भाषा दोनों ही दृष्टि से इसका स्थान हिन्दुओं के धार्मिक साहित्य में बहुत ऊँचा है। यह सब पुराणों से अधिक प्रसिद्ध और सारे भारत में समादृत है। इसमें विष्णु के सभी अवतारों का वर्णन है; फिर भी श्रीकृष्णावतार की कथा बहुत विस्तार तथा मनमोहक रूप में वर्णन की गयी है।

महाभारत और श्रीमद्भागवत—दोनों ही आज हमें जिस रूप में प्राप्य हैं, उनके अध्ययन से पता चलता है कि उनकी रचना के काल में भागवत मत का ही प्राबल्य था। गीता में भी दिये गये संकेत के अनुसार पूर्व-प्रचलित भागवत धर्म के नष्ट हो जाने पर श्रीकृष्ण ने ही उसे फिर से जाग्रत किया था। महाभारत का उद्देश्य मूलतः ऐतिहासिक रहने के कारण व्यासजी को उसमें श्रीकृष्ण तथा उनके द्वारा फिर से प्रचलित किये गये भागवत धर्म पर पूरा-पूरा

प्रकाश डाल पाने का सुयोग न मिलना ही स्वाभाविक था। इसलिए उस युग के महान् नेता और प्रचलित धर्म का पूरा चित्रण कर पाने के लिये उन्हें श्रीमद्भागवत की रचना करने की आवश्यकता प्रतीत हुई होगी।

भागवत मत में श्रीकृष्ण ही परम दैवत के रूप में माने गये हैं। उनकी भक्ति को ही मुक्ति-प्राप्ति का प्रधान साधन बतलाया गया है। उसमें भी साध्यरूपा या फलरूपा भक्ति पर बहुत जोर दिया गया है। वह भक्ति प्रेममयी होती है। 'उसके सामने अनन्य, भगवत्पादाश्रित भक्त ब्रह्मा के पद, इंद्रपद, चक्रवर्तीपद, लोकाधिपत्य तथा योग की विविध विलक्षण सिद्धियों को कौन कहे, मोक्ष को भी नहीं चाहता। भगवान के साथ नित्य वृन्दावन में ललित विहार की कामना करने-वाले भगवच्चरण-चंचरीक भक्त शुष्क नीरस मुक्ति को प्रयासमात्र मानकर तिरस्कार करते हैं। भक्त का हृदय भगवान के दर्शन के लिये उसी प्रकार छटपटाया करता है, जिस प्रकार पक्षियों के पंखरहित बच्चे माता के लिये, भूख से व्याकुल बछड़े दूध के लिये तथा प्रिय के विरह में व्याकुल सुन्दरी अपने प्रियतम के लिये छटपटाती है।'[1] इस प्रेमाभिनय की प्रतिनिधि ब्रज की गोपिकाएँ थीं। उन्हीं के निमल प्रेम का रहस्यमय वर्णन व्यासजी ने 'रासपंचाध्यायी' में किया है। उसी का वर्णन रहने के कारण श्रीमद्भागवत को भक्ति-शास्त्र का सर्वस्व तक कह दिया गया है।

महाभारत के अनुसार भी सबसे विशिष्ट, अद्भुत तथा महान् चरित श्रीकृष्ण का ही है। एक अर्थ में, सिर्फ यादव ही नहीं, बल्कि

---

[1] श्रीमद्भागवत : ११-१०-१४ तथा ६-११-२६.

सारे आर्यावर्त्त के द्वापरकालीन उत्कर्ष के प्रतीक-रूप में उनका चित्र अंकित किया गया है। उनके द्वारा जाग्रत की गई प्रेरणाओं में अद्‌भुत जीवन-शक्ति थी। इसी कारण कृष्ण का जीवन सिर्फ महाभारत-युग के लिए ही नहीं बल्कि, उसके बाद से अब तक के युग में हमारे देश के इतिहास में सबसे अधिक महत्त्व रखनेवाला बना रहता चला आ रहा है। कृष्ण के विचारों से जिस जीवन-प्रणाली तथा उच्च संस्कृति की द्योतक—नृत्य, संगीत, नाट्य, काव्य आदि कलाओं को प्रेरणा मिली, वही आज भी भारतीय जीवन को अनुप्राणित करनेवाला बना हुआ है।

भागवत के ही एक उल्लेख से पता चलता है कि जब तक कृष्णजी जीवित थे, उन्हें लोग मनुष्य, अधिक से अधिक तो 'सर्वोच्च-कोटि का आदर्श मनुष्य' मानते रहे, उनके निर्वाण के बाद ही लोगों ने उन्हें 'भगवान का अवतार' मानना शुरू किया! उद्धवजी विदुर से कहते हैं—'ये मनुष्य भाग्यहीन हैं। उनमें भी यादवगण अत्यंत अभागे थे, क्योंकि वे समीप रहकर भी कृष्णचंद्र को नहीं पहचान सके। × × कैसे आश्चर्य की बात है कि वे यादवगण आठों पहर कृष्ण के साथ एक ही जगह रहने पर भी उन्हें सब प्राणियों का ईश्वर न जानकर केवल यादवों में श्रेष्ठ समझकर उनका सम्मान करते थे।' कृष्ण के निर्वाण के बाद रचे जाने के कारण ही हम महाभारत तथा भागवत दोनों में ही श्रीकृष्ण के भगवान के अवतार माने जाने के उल्लेख पाते हैं। पर उस अवतार के आवरण में अलंकृत रहने पर भी उन ग्रन्थों में चित्रित कृष्ण-चरित में हमें उनके ऐतिहासिक और आदर्श मानव रहने का पूरा-पूरा परिचय मिल जाता है।

उनके अवतार ग्रहण करने का उद्देश्य पुराण-प्रणाली के अनु-

गार भागवत में उल्लेख किया गया है—'द्वापर में जब दानव लोग राजाओं के रूप में पृथ्वी पर उत्पन्न होकर अपनी सेना से पृथ्वी के लोगों को सतावेंगे, तब पृथ्वी का वह भार उतारने के लिए भगवान, कृष्ण और बलभद्र नाम से, पृथ्वी तल पर उपन्न होंगे।'

कृष्णावतार के सौन्दर्य तथा गुण चित्रित करने में व्यासदेव-जैसे महान् प्रतिभाशाली महाकवि तथा उनके बाद के हमारे देश के अनगिनत कवियों ने काव्य तथा कला को बहुत ही उच्च कोटि पर पहुचा दिया है। भागवत में कहा गया है—'भगवान की यह श्रीमूर्ति बहुत ही अद्भुत थी। यह मूर्ति सौभाग्यातिशय की पराकाष्ठा थी। इस अपनी अलौकिक ऐश्वर्यशालिनी मूर्ति को देखकर स्वयं भगवान को विस्मय होता था। भगवान के श्याम अंगों को आभूषण नहीं अलंकृत करते थे, आभूषणों की ही उनसे शोभा होती थी। महाराज युधिष्ठिर के राजसूय-यज्ञ में जो त्रिभुवन के रहनेवाले सब प्राणी आए थे, उन्होंने नयनों को आनन्ददायक श्रीकृष्ण भगवान के सुन्दर शरीर को देखकर अपने मन में यही सोचा कि सृष्टि के बनाने में विधाता ने जो कुछ अपनी चतुरता दिखलाई है, वह सब इस मूर्ति की सुन्दरता के आगे तुच्छ है। भगवान के शरीर में जो सौन्दर्य देख पड़ता है, वैसा सौन्दर्य ब्रह्मा की सारी सृष्टि में कहीं दिखाई नहीं देता। ब्रह्मा ने अपना सारा सृष्टि-कौशल इस मूर्ति के निर्माण में व्यय कर दिया है। × × विशुद्ध सत्त्वमय श्री भगवान के श्याम शरीर पर रेशमी पीतांबर शोभायमान था! अरुण लोचनों में प्रशांत भाव झलक रहा था। × × दोनों विशाल नेत्र खिले हुए कमल के समान रम्य थे। कानों में चमकते हुए मकराकृति कुंडलों की अपूर्व शोभा थी। अंगों में यथास्थान करधनी, जनेऊ, किरीट मुकुट, कटक, अंगद, हार, नूपुर, मुद्रा और कौस्तुभ आदि आभूषण

विराजमान थे। गले से पैरों तक लटक रही वनमाला की शोभा देखते ही बनती थी।' व्रज की गोपियाँ कहती हैं, जब आप वन से लौटते हैं, तब आपका घूँघरवाली अलकों से शोभित श्रीमुख देखकर हमें जो सुख होता है, वह शब्दों से नहीं प्रकट किया जा सकता। उस समय हम पलकों को बनानेवाले मूर्ख विधाता को गालियाँ देने लगती हैं। पलक जितनी देर में झपकती है, उतनी देर भी आपका वियोग हमें असह्य है।'

उनका रास-उत्सव भी अपूर्व है—'गोपियों के गले में हाथ डाले हुए कृष्ण ने अद्भुत रास-लीला आरंभ की। सोने के रंग की मणियों के बीच जैसे नीलम की शोभा हो, वैसे ही उन गोरी गोपियों के बीच श्याम वर्ण कृष्णचंद्र शोभायमान हो रहे थे। सुगंध से मस्त हो रहे भ्रमर जिसमें गवैयों की तरह गुनगुनाते फिर रहे थे, उस रास-सभा में कृष्ण के साथ सब गोपियाँ कंकण, किंकिणी, नूपुर और बाजों के शब्द के साथ नाच रही थीं। उस समय उनके कानों में लगे हुए कमल के फूलों, अलकावली से अलंकृत कपोलो और पसीने की बूँदों से उनके मुखारविंदों की अपूर्व शोभा हो रही थी। उनके बिखर रहे केशपाश से फूलों की मालाएँ खुल-खुलकर खिसक-खिसक-कर धरती पर गिरने लगीं।'

कृष्ण की बाँसुरी भी अनोखी है। गोपियाँ कहती हैं—'हे यशोदारानी! गोपों की विविध क्रीड़ाओं में निपुण तुम्हारे पुत्र कृष्णचंद्र, जब आपसे सीखी हुई निषाद, ऋषभ, पंचम आदि स्वर-जातियों को अधर पर धरी वंशी में अलापते हैं, तब इन्द्र, महादेव, ब्रह्मा आदि श्रेष्ठ देवता भी उस ह्रस्व, मध्यम, दीर्घ भेदों के उतार-चढ़ाव में अलापे हुए गीत को सिर झुकाए, कान और मन लगाए सुनते हैं।' वे ही गोपियाँ आपस में चर्चा करती हैं—'गोपियो, इस

बाँसुरी ने कौन ऐसा पुण्य किया है ? देखो, कृष्ण के अधरामृत को, जिसे पीने का अधिकार केवल हम गोपियों को है, यह वंशी मनमाना पी रही है। इससे बचा हुआ उसका रस हमें प्राप्त होगा। वास्तव में यह जड़ वंशी धन्य है। जिन नदियों के जल से इस वंशी का शरीर पुष्ट हुआ है, वे नदियाँ इसका यह अपूर्व सौभाग्य देखकर प्रसन्न हो रही हैं। उन नदियों के बीच फूले हुए कमलों को देखकर जान पड़ता है कि हर्ष के कारण उनके शरीर में रोमांच हो आया है। अपने वंश में हरिभक्त संतान उत्पन्न होने पर जैसे कुल के बड़े बूढ़े लोग आनंद के आँसू बहाते हैं, वैसे ही वंशी के इस अपूर्व सौभाग्य को देखकर उसके वंश के सब पुराने वृक्ष मधुधारा-रूप आनंद के आँसू बहा रहे हैं।'

कृष्ण के निवास करते समय द्वारका की भी शोभा कम नहीं है—'बिजली के समान प्रभा से परिपूर्ण, उत्तम वेशवाली, नव-यौवना सुन्दरी कामनियाँ द्वारका के ऊँचे-ऊँचे भवनों में कंदुक-क्रीड़ा किया करती थीं। जिनके कपोलों से मदजल बह रहा है, ऐसे हाथियों के झुण्ड, भली भाँति अलंकृत योद्धा लोग, सुवर्णमंडित रथ और तेज दौड़नेवाले घोड़े द्वारका की चौड़ी सड़कों पर सदा दिखाई पड़ते थे। वह पुरी अनेक बागों और उपवनों से अत्यंत सुशोभित थी। उपवनों में फूले हुए वृक्षों की डालियों पर बैठे हुए पक्षी और मत्त भौंरों के झुण्ड अपने मनोहर गान से वहाँ के निवासियों को प्रसन्न करते थे। × × रानियाँ सब कुछ भूलकर तन्मय हो गई थीं। वे कभी-कभी पागलों की तरह, मेघ आदि जड़ वस्तुओं से प्रिय के प्रेम से पूर्ण वाक्य कहने लगतीं थीं। कभी कुररी को देखकर एक रानी कहती—'हे कुररी! तू क्यों नहीं सोती! क्या तुझे नींद नहीं आती ? सखी, क्या हमारी ही तरह कमलनयन

कृष्णचंद्र के हास्यपूर्ण, उदार लीला-विलास-युक्त कटाक्ष-रूप बाणों से तेरा भी हृदय भली-भाँति घायल हो गया है ?' एक रानी श्याम-घन को देखकर कहने लगी—हे श्रीसंपन्न श्यामघन, तुम अवश्य ही यादवपति के प्रीतिपात्र हो। तुम भी हमारे ही समान श्रीवत्स धारण करनेवाले प्रिय सखा कृष्णचंद्र का ध्यान करते हो। तुम उनके प्रेम में डूबे हुए हो। अत्यंत उत्कंठा से तुम्हारा हृदय परिपूर्ण हो रहा है। इसी कारण बारंबार प्रियतम का स्मरण करते हुए रह-रहकर आँसुओं की धाराएँ (पानी की बूँदें) बहा रहे हो। उन घनश्याम के प्रसंग में ऐसे ही दुख झेलने पड़ते हैं।'

इन वर्णनों से ही पता चलता है कि श्रीकृष्ण की लीलाओं द्वारा हमारे देश के संगीत, नृत्य तथा काव्य-जैसी कलाओं को कितना अधिक प्रोत्साहन मिला था। आज भी उनकी ही लीलाओं की 'छलना' में हमारे देश के चतुर संगीतज्ञ, नृत्यकलाविद्, शिल्पी तथा कवि अपने कल्पना-जगत् के मनोहर से मनोहर, कोमल से कोमल और सूक्ष्म से सूक्ष्म तारों की झंकार व्यक्त किया करते हैं।

श्रीकृष्ण के जीवन का हमारे धार्मिक विश्वास तथा उपासना-पद्धति पर भी कम असर नहीं पड़ा है। भागवत में भी इस संबंध की कथाएँ मिलती हैं।' एक बार नन्दराज ने बहुत-सा धन खर्च करके इन्द्र की पूजा करने का आयोजन किया, तब भगवान ने इन्द्र का अभिमान मिटाने और उस धन का सद्व्यय कराने के लिये इन्द्र-याग बंद कराकर उसी सामग्री से गोवर्द्धन और गौओं की पूजा कराई। इस प्रकार अपनी पूजा बंद हो जाने पर अपने अनादर से अत्यंत क्रोध करके इन्द्र ने ब्रज का विनाश कर डालने के लिए उद्यत होकर लगातार कई दिन तक मूसलधार पानी बरसाया। तब अपनी शरण में आए हुए अनुगत ब्रजवासियों की रक्षा करने

के लिए कृष्णचंद्र ने छतरी के समान अनायास बाएँ हाथ से गोवर्द्धन पर्वत को ऊपर उठा लिया। उसी के नीचे सारे व्रज की रक्षा कर भगवान ने इन्द्र का दर्प चूर्ण कर दिया।

उपर्युक्त कथा में अवश्य ही उस काल का इतिहास वर्णन किया गया है जब ऋग्वेद-काल से चला आता इन्द्र-याग बंद होने लगा और अनार्यों के संपर्क में आने पर आर्य पहाड़-पूजा वा गोपूजा अपनाने लगे थे। श्रीकृष्ण ने उसमें भक्ति का भी पुट लगा दिया और भागवत अथवा वैष्णव धर्म प्रचलित किया। और आगे चलकर इन्द्र-याग का लोप ही हो चला और उसके स्थान पर 'विष्णु के अवतार श्रीकृष्ण' की पूजा प्रचलित हो गयी, जो अब भी हिन्दुओं के बीच चालू है।

ठीक इसी भाँति शिवोपासना में भी वैष्णव धर्म के संघर्ष चलने का वर्णन भागवत में मिलता है। दशम स्कंध में 'उषा-चरित्र' के सिलसिले में कृष्ण और शंकर महादेव के युद्ध का जिक्र किया गया है। इस युद्ध में भी कृष्ण ही विजयी होते हैं। इनकी विजय का तात्पर्य अवश्य ही शैवमत का वैष्णवमत द्वारा दबा दिए जाने के काल का इतिहास ही है।

महाभारत के अध्ययन से भी स्पष्ट हो जाता है कि उस काल के सब देवताओं में श्रेष्ठ विष्णु ही माने गये हैं। बहुत गंभीर समस्याओं के आ उपस्थित होने पर सब लोग उनकी ही शरण में जाते हैं, और वे सबका त्राण करते हैं। उन्हें 'देवाधिदेव' कहा गया है। इन्द्र तक उनकी ही पूजा करनेवाले कहलाये गये हैं। उसी विष्णु के अवतार रहने के कारण धार्मिक अथवा विश्वास-संबंधी मामलों में श्रीकृष्ण ही उस काल में सर्वोपरि माने जाने लगे थे।

तत्कालीन राजनैतिक मंडली में भी कृष्ण कम ऊँचा स्थान नहीं रखते थे। भागवत के अनुसार 'उस समय यादवों में एक सौ एक कुल थे। उन यादवों की प्रभुता का प्रमाण साक्षात् हरि हुए हैं। उन्हीं के अनुगत होने से यादवों का ऐसा अपूर्व अभ्युदय हुआ।'[1]

महाभारत में भी राजसूय यज्ञ के अवसर पर धर्मराज युधिष्ठिर भीष्म पितामह से पूछते हैं—'पितामह, कृपा करके बतलाइये, इन समागत सज्जनों में हमलोग सबसे पहले किसकी पूजा करें? आप किसे सबसे श्रेष्ठ और पूजा के योग्य समझते हैं?'

भीष्म उत्तर देते हैं—'धर्मराज, पृथ्वी में यदुवंश-शिरोमणि भगवान श्रीकृष्ण ही सबसे बढ़कर पूजा के पात्र हैं। क्या तुम नहीं देख रहे हो कि उपस्थित सदस्यों में भगवान श्रीकृष्ण अपने तेज, बल और पराक्रम से वैसे ही देदीप्यमान हो रहे हैं, जैसे छोटे-छोटे तारों में भास्कर भगवान सूर्य। जैसे तमसाछन्न स्थान सूर्य के शुभागमन से और वायुहीन स्थान वायु के संचार से जीवन-ज्योति से जगमगा उठता है, वैसे ही भगवान श्रीकृष्ण के द्वारा हमारी सभा आह्लादित और प्रकाशित हो रही है।' भीष्म की आज्ञा मिलते ही प्रतापी सहदेव ने विधिपूर्वक श्रीकृष्ण को अर्घ्यदान किया और श्रीकृष्ण ने शास्त्रोक्त विधि के अनुसार उसे स्वीकार किया।

पांडवों का पक्ष ही 'धर्मपक्ष' था; इसलिये कृष्ण को हम उनका ही सलाहकार देखते हैं। उनकी सलाह से पांडवों की ओर से अन्यायाचरण भी हुए हैं, पर उन स्थानों पर भी उनके द्वारा अनुप्रेरित अन्यायाचरण को उनका अलौकिक चरित्र ही बतलाया

[1] भागवत, दशम स्कंध, अध्याय ६०

गया है। कृष्ण के पक्ष में रहने से ही पांडवों की युद्ध में विजय भी हुई थी। भारत-युद्ध की भयानक रण-नदी को पार करानेवाले कृष्ण ही उसके 'चतुर माँझी' कहे गए हैं। कृष्ण के इस महान् व्यक्तित्व का खयाल करते हुए जिस युग में वे हुए थे, उसे 'कृष्ण का युग' भी कहें तो ऐतिहासिक दृष्टि से अतिशयोक्ति नहीं होगी।

वे ही कृष्ण जब सब मामलों से अपना हाथ समेटने लगते हैं, तब चारों तरफ विनाश घिर आने लगता है। जैसे 'बाँस के वन में आपस की रगड़ से उत्पन्न प्रचंड अग्नि से सारा वन भस्म हो जाता है, वैसे ही आपस की स्पर्धा (लाग-डाँट) से उत्पन्न क्रोध से, कृष्ण की माया से मोहित, ब्रह्म-शापग्रस्त यदुवंश का विनाश हो गया।' तब भगवान कृष्णचन्द्र ने भी मौन धारण कर लिया। वे एक पीपल के पेड़ के नीचे जा बैठे। वहीं एक व्याधा ने उनके चरणों को ताककर बाण चलाया। बाण लग गया। कृष्ण ने अपने सारथी से कहा—मेरी छोड़ी हुई द्वारकापुरी समुद्र में डूब जायगी। अपने-अपने परिवार को लेकर मेरे माता-पिता सहित अर्जुन के साथ सब लोग इन्द्रप्रस्थ चले जायँ।' तब श्रीकृष्ण ने परधाम गमन किया।

उसी समय से महाभारत के सबसे महान् योद्धा—अर्जुन की शक्ति भी क्षीण हो गई। युधिष्ठिर के सामने उपस्थित होकर वे विलाप करते हैं—'कृष्ण की सोलह सहस्र स्त्रियों को लेकर मैं आ रहा था,। राह में नीच गोपों ने एक अबला स्त्री की तरह मुझे हरा दिया। हा, वही यह गांडीव-धनुष है, वे ही ये अमोघ बाण हैं! वही रथ और वे ही घोड़े हैं! वही योद्धा भी मैं हूँ, जिसे बड़े-बड़े राजा सिर नवाते थे। पर देखिये, एक कृष्ण के बिना

सब उसी तरह प्रभावहीन हो गए जिस प्रकार राख में मंत्र पढ़कर विधिपूर्वक भी किया गया हवन अथवा ऊसर में अच्छी तरह जोत-कर भी बोया गया बीज निष्फल होता है।'

द्वारका से आते समय राह में जंगली आभीरों के आक्रमण का अर्जुन को मुकाबला करना पड़ा था, तब अर्जुन ने साथ लाये यादवों को छिन्न-फूट—शाल्य देश, सरस्वती नदी पर तथा कुछ को इन्द्रप्रस्थ में बसा दिया।

कृष्ण के वियोग से पांडव भी विरक्त हो गए। वे केवल एक वस्त्र पहने, निराहार, मौन, बाल खोले, अपने को जड़, उन्मत्त, पिशाचग्रस्त-सा दिखलाते हुए उत्तर दिशा को चल दिये, जहाँ पहले और महात्मा लोग भी जा चुके हैं। उन्होंने न किसी की ओर देखा न भाई, स्त्री आदि किसी के साथ आने की प्रतीक्षा की। बहरे आदमी की तरह वे जैसे किसी की बात सुनते ही न थे। हृदय में परब्रह्म का ध्यान करते हुए राजा युधिष्ठिर उसी ओर चले, जिधर जाकर कोई नहीं लौटता!

कृष्ण के परधाम-गमन के दिन से ही हमारे देश के इतिहास में युगान्तर उपस्थित हुआ। आर्य-जीवन के उज्ज्वल 'वैदिक काल' की परिसमाप्ति उसी दिन हुई। ऐतिहासिक उसी दिन से द्वापर की समाप्ति और कलि का आरंभ गिनते हैं। कृष्ण के साथ-साथ उनका वह युग भी चला गया। वह भी वहीं—जहाँ से फिर कोई नहीं लौटता।